बृहदारण्यकोपनिषद् सार

जन जन की भाषा में

राजेन्द्र कुमार गुप्ता

निवेदन

उपनिषद् सनातन धर्म के महत्वपूर्ण श्रुति ग्रन्थ हैं । उपनिषदों की उत्पत्ति ऋषियों की मौखिक परम्पराओं के रूप में हुई और ये वैदिक साहित्य का निचोड़, भारतीय आध्यात्मिक चिंतन के मूलाधार और भारतीय आध्यात्मिक दर्शन के स्रोत हैं । उपनिषद् शब्द का साधारण अर्थ है-'समीप उपवेशन' या समीप बैठना, अर्थात ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए शिष्य का गुरु के पास बैठना । इनमें वेदों का सार तत्व अर्थात ब्रह्मविद्या का निचोड़ समाहित है । नौ मुख्य उपनिषदों-यथा ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर उपनिषद् का सार तत्व और छान्दोग्योपनिषद् के सारतत्व को इससे पूर्व प्रस्तुत किया जा चुका है । इस पुस्तक में बृहदारण्यकोपनिषद् के सारतत्व को सरल जन जन की भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् यजुर्वेद की काण्वी शाखा के वाजसनेयिब्राह्मण के अन्तर्गत है । आकार की दृष्टि से यह अन्य उपनिषदों से बृहत् है और अरण्य अर्थात वन में अध्ययन किए जाने के करण इसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहा गया । इस उपनिषद् में कुल छः अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में छः ब्राह्मण हैं । इस अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में सृष्टिरूप यज्ञ को अश्वमेघ के विराट अश्व के रूप में निरुपित किया गया है । दूसरे ब्राह्मण में सृष्टि उत्पत्ति; तीसरे ब्राह्मण में प्राण की महिमा; चौथे ब्राह्मण में ब्रह्म की सर्वरूपता और चारों वर्णों का क्रमशः विकास; पाँचवे ब्राह्मण में सम्पूर्ण सृष्टि को मन, प्राण और वाणी के रूप में विभाजन और छठे ब्राह्मण में नाम, रूप और कर्म का विवेचन किया गया है । इसके तृतीय ब्राह्मण में कुछ बहुचर्चित मन्त्र-'असतो मा सद्गमय,' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय,' और 'मृत्योर्मामृतं गमय' उल्लेखित किए गए हैं ।

दूसरे अध्याय में भी छः ब्राह्मण के अन्तर्गत आत्मतत्व और ब्रह्म, प्राणोपासना और ब्रह्म के साकार और निराकार रूप का विवेचन किया गया है । ऋषि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयि के संवाद के द्वारा ब्रह्म और आत्मा का अभेद प्रतिपादन और इसके साथ ही इसमें मधुविद्या और उसकी परम्परा का भी प्रतिपादन किया गया है । मधु-अर्थात कार्य; जिस प्रकार अनेक मधुकरों द्वारा एक मधु का छत्ता तैयार किया हुआ होता है वैसे ही पञ्चमहाभूत, सूर्य, चन्द्र आदि भूतों के और भूत उनके कार्य हैं ।

तीसरे अध्याय में नौ ब्राह्मण हैं और इस अध्याय में ऋषि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रश्नोत्तर के माध्यम से विदेहराज जनक की सभा में उपस्थित अन्य विद्वानों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं जिनके माध्यम से ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है । इसी अध्याय में देवताओं की संख्या मुख्यतः तैतीस बताई गई है ।

चतुर्थ अध्याय में छः ब्राह्मण हैं और इस अध्याय में विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्य के बीच संवाद है, जिसके द्वारा विदेहराज जनक विविध ज्ञान प्राप्त कर अन्त में याज्ञवल्क्य द्वारा ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होकर वे अपना सर्वस्व अर्पण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार करते हैं ।

पञ्चम अध्याय में पन्द्रह ब्राह्मण हैं जिनमें ब्रह्म के विविध रूपों की और मनोमय पुरुष और वाणी की भी उपासना को प्रतिपादित किया गया है । साथ ही मृत्यु के बाद उर्ध्वगति और 'अन्न' और 'प्राण' के विविध रूपों की उपासना का भी वर्णन किया गया है । 'गायत्री' उपासना की महत्ता का भी इस अध्याय में उल्लेख किया गया है ।

अंतिम छठे अध्याय में पाँच ब्राह्मण हैं जिनमें प्राण की श्रेष्ठता, पंचाग्नि और मन्थ विद्या आदि का वर्णन किया गया है ।

अन्य उपनिषदों की भांति यह उपनिषद भी आत्मा और ब्रह्म में अभेद प्रतिपादित करते हुए यह घोषणा करता है कि इस नाम, रूप और कर्मरूपी जगत का आत्मा ही आधार है:

इस सारे व्याकृत, अव्याकृत जगत का,
नाम, रूप और कर्म ही है आधार,
ये नाम, रूप, कर्म जन्में आत्मा से,
यह आत्मा ही है इन सबका आधार ।

इस आत्मा की अनन्तता और विशेषता के विषय में यह कहता है:

नेति-नेति कह निरूपित किया गया जिसे,
वह आत्मा ग्रहण नहीं किया जा सकता,
ना नष्ट होता वो, न ही संसक्त होता,
उसे व्यथित ना हिंसित किया जा सकता ।

परमात्मा (ब्रह्म) से उत्पन्न इस जगत (उपाधियुक्त-सोपाधिक ब्रह्म) की पूर्णता के विषय में यह उपनिषद् कहता है:

पूर्ण है वह परब्रह्म-परमात्मा,
और वह सोपाधिक ब्रह्म भी पूर्ण,
पूर्ण से ही यह पूर्ण उत्पन्न होता,
पूर्ण निकाल लेने पर भी शेष पूर्ण ।

आकाश सा व्यापक, अनन्त, उपाधिशून्य,
वही यह नाम-रूप से स्थित सोपाधिक पूर्ण,
उस कारण ब्रह्म से कार्य ब्रह्म प्रकटा,
उस पूर्ण से प्रकटा यह कार्य ब्रह्म भी पूर्ण ।

नाम-रूप उपाधि युक्त अविद्या से जनित,
कार्यब्रह्म परमार्थ-स्वरूप से भिन्न लगता,
पर जब जान लेता 'मैं ही वह पूर्ण ब्रह्म हूँ,'
अपूर्णता तिरस्कृत हो केवल पूर्ण रहता ।

इस कार्य का मुख्य आधार गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित बृहदारण्यकोपनिषद्, भारतकोश का बृहदारण्यकोपनिषद् और 'श्री हिन्दू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन' का बृहदारण्यकोपनिषद् हैं । मैं इन सभी का हार्दिक अभिनन्दन और आभार व्यक्त करता हूँ कि उन्होंने विषय को सरल बनाने और पाठकों को इसे उपलब्ध कराने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

इस प्रस्तुति का मुख्य उद्देश्य सामान्य जनों को सीधी-सरल भाषा में बृहदारण्यकोपनिषद् में निहित ज्ञान से परिचित कराना मात्र है । लेकिन उपनिषदों में निहित गूढज्ञान, इस सरल पदरूप प्रस्तुति में कहीं गौण न हो जाय इसलिए फुटनोट्स द्वारा जगह-जगह उसे यथोचित रूप से प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है । पाठकों से निवेदन है कि वे इन पदों को फुटनोट्स के साथ पढ़कर उपनिषद् में निहित भाव को ग्रहण करने का कष्ट करें ।

इस कार्य में जो कुछ सफलता मिल पाई है, वह गुरुजनों का कृपाप्रसाद उन्हीं के श्रीचरणों में सादर समर्पित है । पाठक अपने सुझाव, आलोचना आदि rkgupta51@yahoo.com पर व मोबाइल न. 9899666200 पर भेज सकते हैं । वे website www.sufisaints.net देखने के लिए भी आमंत्रित हैं ।

01.10 .2024

विनीत

राजेन्द्र कुमार गुप्ता

विषय-सूची

1. प्रथम अध्याय 4
   - प्रथम ब्राह्मण 4
   - द्वितीय ब्राह्मण 5
   - तृतीय ब्राह्मण 7
   - चतुर्थ ब्राह्मण 12
   - पञ्चम ब्राह्मण 18
   - षष्ठ ब्राह्मण 25

2. द्वितीय अध्याय 27
   - प्रथम ब्राह्मण 27
   - द्वितीय ब्राह्मण 31
   - तृतीय ब्राह्मण 32
   - चतुर्थ ब्राह्मण 33
   - पञ्चम ब्राह्मण 35
   - षष्ठ ब्राह्मण 37

3. तृतीय अध्याय 39
   - प्रथम ब्राह्मण 39
   - द्वितीय ब्राह्मण 42
   - तृतीय ब्राह्मण 43
   - चतुर्थ ब्राह्मण 44
   - पञ्चम ब्राह्मण 45
   - षष्ठ ब्राह्मण 45
   - सप्तम ब्राह्मण 46
   - अष्टम ब्राह्मण 47
   - नवम ब्राह्मण 48

4. चतुर्थ अध्याय 55
   - प्रथम ब्राह्मण 55

द्वितीय ब्राह्मण 56
तृतीय ब्राह्मण 58
चतुर्थ ब्राह्मण 63
पञ्चम ब्राह्मण 67
षष्ठ ब्राह्मण 67

5. पञ्चम अध्याय 69
प्रथम ब्राह्मण 69
द्वितीय ब्राह्मण 69
तृतीय ब्राह्मण 70
चतुर्थ ब्राह्मण 70
पञ्चम ब्राह्मण 70
षष्ठ ब्राह्मण 71
सप्तम ब्राह्मण 71
अष्टम ब्राह्मण 71
नवम ब्राह्मण 72
दशम ब्राह्मण 72
एकादश ब्राह्मण 72
द्वादश ब्राह्मण 72
त्रयोदश ब्राह्मण 73
चतुर्दश ब्राह्मण 73
पञ्चदश ब्राह्मण 75

6. षष्ठ अध्याय 77
प्रथम ब्राह्मण 77
द्वितीय ब्राह्मण 78
तृतीय ब्राह्मण 81
चतुर्थ ब्राह्मण 84
पञ्चम ब्राह्मण 85

बृहदारण्यकोपनिषद्

जन जन की भाषा में

“ॐ बृहदारण्यकोपनिषद्”

“शान्तिपाठ”

परब्रह्म पुरुषोत्तम पूर्ण सर्वदा,
उनसे ही उपजा जगत भी पूर्ण,
उस पूर्ण से पूर्ण निकल कर भी,
वो शेष रहा पूर्ण, पूर्ण का पूर्ण ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

प्रथम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

यज्ञ सम्बन्धी अश्व[1] का सिर है उषा,[2]
सूर्य नेत्र हैं उसके और वायु है प्राण,
वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख उसका,
संवत्सर आत्मा, द्युलोक पृष्ठ स्थान ।

दिशाएँ पार्श्वभाग, अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ,
अन्तरिक्ष उदर, पृथ्वी पैर रखने का स्थान,
दिन और रात्रि प्रतिष्ठा, नक्षत्र अस्थियाँ,
ऋतुएँ अंग, मास व अर्धमास सन्धिस्थान ।

आकाश मांस, नदियाँ नाड़ी, बालू ऊवध्य,[3]
पर्वत हृदयगत मांसखण्ड और जिगर उसके,
नाभि का ऊपरी भाग, ऊपर को जाता सूर्य,
ओषधि और वनस्पतियाँ लोम हैं उसके ।

कटि से निचला भाग, नीचे जाता सूर्य,
उसका जमुहाई लेना बिजली का चमकना,
मूत्र त्याग वर्षा, हिनहिनाना ही वाक्,
और उसका शरीर हिलाना मेघ गर्जना ।

दिन प्रकटा उसके सामने महिमारूप[4] से,
पूर्व समुद्र है जिसका प्राप्ति स्थान,
रात्रि प्रकट हुई महिमारूप से उसके पीछे,
पश्चिमी समुद्र है जिसका प्राप्ति स्थान ।

ये दिन और रात्रि दोनों इस अश्व के,
आगे और पीछे के महिमासंज्ञक ग्रह हुए,
इस प्रकार यह अश्व महत्त्वपूर्ण है,
यह पुनरुक्ति है उसकी स्तुति के लिए ।

हय, वाजी, अर्वा और अश्व हो वहन किया,[5]
देवता, गन्धर्व, असुर और मनुष्यों का इसने,
समुद्ररूपी परमात्मा ही बन्धु-बन्धन इसका,
और उसी समुद्र से ही जन्म लिया इसने ।

---

[1] इस प्रकरण में प्रकृति के विराट रूप की कल्पना अश्वमेघ यज्ञ के अश्व के रूप में (प्रजापति-दृष्टि से) की गई है और उसके शरीर के अवयवों के अनुरूप उनमें सूर्य, वायु, पर्वत, नदियाँ आदि का अध्यारोपण किया गया है । अश्वमेघ के अश्व के माध्यम से उसके चक्रवर्ती राजा के रूप में ब्रहम द्वारा इस सृष्टि की सतत गतिशीलता को लक्षित किया गया है । जिस प्रकार अश्वमेघ यज्ञ के अन्त में अश्व की पूजा कर उसकी बलि दे दी जाती है, इस उपनिषद् में साधक को भी इस सृष्टि को नश्वर जान ब्रहम को ही प्राप्त होने के लिए प्रेरित किया गया है ।

[2] उषा अर्थात ब्राह्ममुहूर्त; इसके द्वारा प्रसिद्द काल का स्मरण किया गया है ।

[3] ऊवध्य अर्थात उदरस्थित अर्धपक्व अन्न ।

[4] अश्व के आगे और पीछे महिमा नामक सोने और चाँदी के दो ग्रह अर्थात यज्ञिय पात्रविशेष रखे जाते हैं जिन्हें इस मन्त्र में दिन व रात के रूप में निरुपित किया गया है ।

[5] हय, वाजी, अर्वा और अश्व हो वहन किया-अर्थात हय यानी विशिष्ट गतिमान (घोड़ों की एक प्रजाति का नाम भी); वाजी अर्थात घोड़ा और अर्वा यानी हवा की गतिवाला-इस अश्व की विशिष्टाएँ, जिनके साथ इसने देवताओं, गन्धर्वों, असुरों और मनुष्यों को वहन किया (यानी उन्हें उनके गुण-विशेष को प्राप्त कराया) । यहाँ वाहन होना निंदनीय नहीं है क्योंकि अश्व का वाहन होना उसका स्वभाविक गुण है और स्वभाविक होने से देवादि से सम्बद्ध होना स्तुतिपरक है ।

द्वितीय ब्राह्मण

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था,
यह सब मृत्यु से ही था आवृत,[6]
मृत्युरूपी अशनाया[7] से आवृत उसने,
मनयुक्त हो जाऊँ, किया संकल्प ।

मनोयुक्त हो अर्चन-पूजन करते,
'मैं कृतार्थ हूँ,' ऐसे आचरण किया,
उस प्रजापति के अर्चन-पूजन से,
पूजा का अंगभूत जल उत्पन्न हुआ ।

अर्चन करते 'क' (जल) प्राप्त हुआ,
इसलिए यही अर्कत्व है अर्क[8] का,
जो ऐसे अर्क का अर्कत्व जानता,
सुपात्र होता वो सुख प्राप्त करने का ।

उस जल का जो स्थूल भाग[9] था,
तेज[10] द्वारा परिपक्व हो एकत्र हो गया,
उस इस प्रकार एकत्र हुए जल से,
यह पृथ्वीरूप ब्रह्माण्ड निष्पन्न हो गया ।

पृथ्वीरूप ब्रह्माण्ड के उत्पन्न होने पर,
वह मृत्युरूपी प्रजापति श्रान्त हो गया,
तब उस प्रजापति का जो तेजोरस था,
अग्नि के रूप में बाहर प्रकट हो गया ।

इस प्रकार उत्पन्न हुए इस प्रजापति ने,
विभक्त किया अपने को तीन भागों में,
सूर्य, वायु और अग्नि[11] में विभक्त किया,
अपने अग्निरूप के तृतीयांश को उसने ।

पूर्व दिशा बना उसका शीर्ष भाग,
उत्तर, दक्षिण दिशाएँ पार्श्व भाग उसका,
द्युलोक बना उसका पृष्ठ भाग,
अन्तरिक्ष उदर, पृथ्वी वक्षस्थल उसका ।

जल में स्थित यह प्रजापतिरूप अग्नि,
उसकी आत्मा बन, प्राणतत्त्व कहलाता,
उसे इस प्रकार जान जो करता उपासना,
जहाँ कहीं भी जाता वहाँ प्रतिष्ठा पाता ।

तदन्तर उस मृत्यु ने करी यह कामना,
कि मेरा एक दूसरा शरीर हो उत्पन्न,
मन से सृष्टिक्रम[12] विचार करने से हुआ,
जन्मान्तरकृत ज्ञानकर्मरूप बीज उत्पन्न ।

---

[6] सृष्टि के प्रारम्भ में कुछ नहीं था, केवल एक सत् ही था जो प्रलय-रूपी मृत्यु से ढका हुआ था । तब उसने संकल्प किया कि मैं पुन: उदित हो जाऊँ ।

[7] अशनाया-'अशन' अर्थात भोजन; अशनाया भोजन करने की इच्छा (क्षुधा); यही उस मृत्यु का लक्षण है । भोजन की इच्छा होने से ही जीव, जीव की हत्या करता है । अशनाया विज्ञानात्मा (अर्थात बुद्धि से तद्रूप हुआ जीवात्मा) का धर्म है । अत: बुद्धि में स्थित हिरण्यगर्भ (जीवात्मा-ब्रह्मा या प्रजापति) ही मृत्यु कहा गया है ।

[8] अर्क-जिसके अर्चन करनेवाले को क (जल या सुख) हो उसका नाम अर्क है । इस व्युत्पत्ति से 'अर्क' अग्नि को कहते हैं । अग्नि से ही जल की उत्पत्ति होती है ।

[9] स्थूल भाग-अर्थात दही के मण्ड (घृतपिण्ड) के समान ।

[10] तेज-बाहरी और भीतरी तेज ।

[11] सूर्य, वायु और अग्नि-सूर्य समस्त तेज का भण्डार, वायु अर्थात ऑक्सीजन (O_2), जो अग्नि का कारक है, जिसके बिना अग्नि सम्भव नहीं और अग्नि, जो कि प्रज्वलित अग्नि है ।

[12] सृष्टिक्रम-अर्थात पहले उत्पन्न हुए मन से वेदत्रयीविहित सृष्टिक्रम का विचार किया ।

बीज के द्वारा जल में प्रवेश कर,
वो संवत्सररूप काल का निर्माता हुआ,
एक संवत्सर काल की अवधि तक,
मृत्यु ने अपने गर्भ में उसे रखा ।

तत्पश्चात फोड़ दिया उस अण्डे को,
क्षुधायुक्त होने से खाना चाहा उसे उसने,
डर गया तब वह प्रथमशरीरी कुमार अग्नि,
'भाण्' उच्चार, वाक् उत्पन्न किया उसने ।

यह तो बहुत ही अल्प अन्न होगा, सोच,
सारा स्थावर और जंगम जगत रचा उसने,
वेद, मन्त्र, उनसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञ,
प्रजा, ग्राम्य और वन्यपशु आदि रचे उसने ।

उसने जिस-जिस की ऐसे रचना की,
उस-उसको खाने का किया विचार,
इसलिए उस अदिति[13] नामक मृत्यु का,
प्रसिद्द अदितित्व जानता है संसार ।

इस अन्नभूत सम्पूर्ण जगत का,
वह सर्वात्मभाव से भक्षण करनेवाला,
सब कुछ उसका अन्न हो जाता है,
जो ऐसे उसकी उपासना करनेवाला ।

जन्मान्तर में किये अश्वमेघयज्ञ की भावना,
उससे युक्त प्रजापति हुआ वो कल्पारम्भ में,
कामना की पुन: महान यज्ञ से यजन करूँ,
थक कर यश व वीर्यरूपी प्राण त्यागे उसने ।

प्राणरहित हो शरीर फूलने लगा,
विकारग्रस्त वो शरीर अपवित्र हो गया,
प्रिय वस्तु में जैसे मन रह जाता,
प्रजापति का मन भी उसमें ही रह गया ।

उसने कामना की वो शरीर मेध्य[14] हो जाय,
और शरीरवान हो जाऊँ मैं इसके द्वारा,
क्योंकि वह शरीर अश्वत्[15] हो गया था,
सो वह अश्व हो मेध्य हुआ कामना द्वारा ।

यों अश्व नाम का साक्षात् प्रजापति ही है,
इस प्रकार स्तुति की जाती उसकी,
उसके पुन: प्रवेश से अमेध्य मेध्य हो गया,
अश्वमेध यज्ञ का अश्वमेधत्व है यही ।

प्रजापति ने ऐसी इच्छा कर कि मैं,
पुन: यजन करूँ बड़े भारी यज्ञ से,
अपने ही को यज्ञिय पशु कल्पना कर,
उसे अनवरोध कर छूटा हुआ माना उसे ।

फिर पूरे एक संवत्सर के बाद,
आलभन किया उसे अपने ही लिए,
अन्य देवताओं को भी तत्तद्देवसम्बन्धी,[16]
ग्राम्य और वन्य पशु उन्हें दिए ।

क्योंकि प्रजापति ने ऐसा माना था,
सो आजकल याज्ञिकलोग देवताओं के लिए,
आलभन करते हैं प्रजापतिसम्बन्धी पशु का,
वेदमन्त्रों द्वारा अभिषिक्त किए हुए ।

---

[13] अदिति-'अदन' अर्थात भक्षण; अदिति अर्थात भक्षण द्वारा मृत्यु प्रदाता ।

[14] मेध्य-मेध्य (यज्ञिय) अर्थात पवित्र ।

[15] अश्वत्-अर्थात फूल गया था ।

[16] तत्तद्देवसम्बन्धी-अर्थात उस देवता सम्बन्धी ।

अपने तेज से सूर्य जग प्रकाशित करता,
वही अश्वमेध है, संवत्सर शरीर है उसका,
यज्ञात्मा का साधनभूत पार्थिव अग्नि अर्क,[17]
और उस अर्क के ये तीनों लोक हैं आत्मा ।

अग्नि और आदित्य आपस में मिलकर,
एक ही देवता, मृत्यु ही हैं वे,
पहले भी वह मृत्युदेवता एक ही था,
जो विभक्त हुआ था तीन भाग में ।

जो इस प्रकार इस अश्वमेध को,
मृत्युरूप एक देवता जान उपासता,
मरकर मरने को उत्पन्न नहीं होता,
उसका मृत्यु ही आत्मा हो जाता ।

तृतीय ब्राह्मण

देव और असुर[18] पुत्र थे प्रजापति के,
देव थोड़े लेकिन असुर अधिक थे उनसे,
लोकों के निमित्त[19] करने लगे स्पर्धा,
देवों ने सोचा जीतें उन्हें उद्गीथ[20] से ।

उन देवताओं ने वाक्[21] से कहा,
तुम हमारे लिए करो उद्गान,
वाक् ने 'तथास्तु' ऐसा कहकर,
देवताओं के लिए किया उद्गान ।

उसने जो वाणी में भोग[22] था उसे,
उन देवताओं के लिए किया गान,
और जो शुभ भाषण[23] करती थी उसे,
स्वयं अपने लिए उसका किया गान ।

---

[17] अर्क-जो पार्थिव अग्नि है यह साक्षात् क्रियात्मक यज्ञरूप है । यज्ञ अग्निसाध्य है, इसलिए अग्निरूप से ही उसका निर्देश किया जाता है । फल यज्ञसाध्य है, इसलिए 'आदित्य अश्वमेध है' इस प्रकार यज्ञरूप से ही उसका निर्देश किया जाता है ।

[18] देव और असुर-यहाँ इसका तात्पर्य इन्द्र (देवता) या विरोचन (असुर) आदि से नहीं है, अपितु उसी प्रजापति के बागादि प्राण (अर्थात इन्द्रियों) से है । शास्त्रजनित ज्ञान और कर्म से भावित जो प्राण (इन्द्रियाँ) हैं वे प्रकाशमय होने के कारण देव हैं और वे प्राण ही स्वभाविक प्रत्यक्ष एवं अनुमानजनित दृष्ट प्रयोजनवाले (अर्थात प्रीति और आनन्द प्राप्त करने हेतु-लौकिक सुख हेतु) कर्म और ज्ञान से भावित होने पर असुर हैं ।

[19] लोकों के निमित्त-अर्थात कर्म और ज्ञान से साध्य लोकों के लिए ।

[20] उद्गीथ- उद्गीथ-अर्थात उच्च स्वर में स्तुति गान-ॐकार उच्चारण; यह शब्द उत् (उत्तम, उच्च, सबसे बड़ा), गी (अर्थात गायन) और थ (अर्थात स्थान) से बना है । उपनिषद के अनुसार प्राण ही उत् है क्योंकि प्राण के द्वारा ही मनुष्य ऊपर उठता है, गी से तात्पर्य गायन है जो वाणी अर्थात देवी सरस्वती के लिए प्रयुक्त हुआ है । देखें छान्दोग्योपनिषद् 1/1/1 ।

[21] वाक्-अर्थात वाक् का अभिमानी देवता ।

[22] भोग-वाणी के भाषणादि व्यापार द्वारा वागादि इन्द्रिय समुदाय का जो उपकार होता है, वो यह भोगरूप फल है ।

[23] उस भोग को तीन पवमानों में करके उसने शेष नौ स्त्रोतों में जो ऋत्विक सम्बन्धी वाचनिक फल था-अर्थात वह जो कल्याण यानी सुन्दर भाषण-वर्णोच्चारण करती थी उसे अपने लिए अर्थात यह मेरे लिए ही हो-इस प्रकार गान किया । ज्योतिष्टोम में बारह स्तोत्र हैं । उनमें से 'पवमान' नामक तीन स्तोत्र से यजमान के फल का सम्पादन कर शेष नौ स्तोत्रों से उसने कल्याणवदन का सामर्थ्य अपने लिए गान किया ।

देवों का मंतव्य जान असुरों ने,
विद्ध कर दिया वाणी को पाप से,
यह वाक् जो निषिद्ध भाषण करती,
यही वह पाप है, पाप कहते जिसे ।

तब देवताओं ने प्राण[24] से कहा,
तुम हमारे लिए करो उद्गान,
प्राण ने भी 'तथास्तु' ऐसा कहकर,
देवताओं के लिए किया उद्गान ।

उसने जो प्राण में भोग[25] था उसे,
उन देवताओं के लिए किया गान,
और जो वह शुभ सूँघता था उसे,
स्वयं अपने लिए उसका किया गान ।

जब असुरों ने जाना देवों का मंतव्य,
प्राण को विद्ध कर दिया पाप से,
यह प्राण जो अननुरूप सूँघता है,
यही वह पाप है, पाप कहते जिसे ।

फिर देवों ने चक्षु, श्रोत्र और मन से कहा,
उन्होंने भी वाक् और प्राण जैसे ही किया,
देवताओं का मंतव्य जान असुरों ने क्रमशः,
उन सबको भी पाप से विद्ध कर दिया ।

फिर देवों ने मुख में रहते प्राण[26] से कहा,
उसे भी विद्ध करना चाहा असुरों ने पाप से,
पर उसके पास जा असुर विध्वस्त हो गये,
पाषाण से टकराया हो मिट्टी का ढेला जैसे ।

प्रकृतिस्थ हो गए तब वे वागादि देवगण,
मुक्त हो गए वे पिण्डमात्र के अभिमान से,
ऐसे जाननेवाला प्रजापतिरूप से स्थित होता,
और नष्ट हो रहते द्वेष करनेवाले उससे ।

तब वे खोजने लगे उस मुख्य प्राण को,
जिसने देवभाव को पहुँचाया उन्हें,
फिर उन्होंने विचार कर यह निश्चय किया,
यह रहता है मुख के भीतर आकाश में ।

मुख के भीतर और अंगों का रस होने से,
यह प्राण अयास्य आंगिरस[27] कहा जाता,
किसी इन्द्रिय-विशेष के आश्रित नहीं यह,
अपितु आत्मा है जीवों और इन्द्रियों का ।

मृत्यु अर्थात आसक्तिरूप पाप,
छू न सके, दूर रहे वे इस प्राण से,
'दूर' नाम से विख्यात, सदा विशुद्ध,
मृत्यु दूर रहता इसके ऐसे ज्ञाता से ।

---

[24] प्राण-अर्थात नासिका में रहनेवाला प्राण ।

[25] भोग-वाणी के भाषणादि व्यापार द्वारा वागादि इन्द्रिय समुदाय का जो उपकार होता है, वो यह भोगरूप फल है ।

[26] मुख में रहनेवाले प्राण से-अर्थात मुख्य प्राण से । देखें छान्दोग्योपनिषद् 1/2/7 ।

[27] अयास्य आंगिरस-आस्य अर्थात मुख अतः अयास्य आंगिरस अर्थात मुख में रहनेवाला अंगों का रस ।

पापरूप मृत्यु को वागादि देवताओं से हटा,
पहुँचा दिया जहाँ दिशाओं का अन्त है[28] उसे,
तिरस्कारपूर्वक स्थापित कर दिया उसे वहाँ,[29]
ताकि वो युक्त न हो पापरूप मृत्यु से ।

उस इस प्राणरूप देवता ने इन देवताओं के,
पापरूप मृत्यु को दूर कर दिया,
और उस वागादि समुदाय को उसने,
अग्न्यादि देवतात्मभाव को प्राप्त कर दिया ।

मृत्यु से पार पहुँच प्रधान वाग्देवता,
अग्नि होकर देदीप्यमान हो गया,
ऐसे ही आदित्य हो गया चक्षु,
और मृत्यु से परे हो तपने लग गया ।

मृत्यु से पार होकर श्रोत्र ऐसे ही,
पूर्वादि दिशा बनकर स्थित हो गया,
ऐसे ही मृत्यु से पार होकर मन,
चन्द्रमा बनकर प्रकाशित हो गया ।

वागादि की तरह ही मुख्य प्राण ने भी,
समर्पित किए थे सबको तीन पवनाम,
इसके पश्चात शेष नौ स्त्रोतों में किया था,
अपने लिए अन्नाद्य[30] का उसने आगान ।

जो कुछ भी अन्न भक्षण किया जाता,
वह प्राण के द्वारा ही खाया जाता,
उसके शरीराकार में परिणित होने पर,
उस अन्नाद्य में ही प्राण प्रतिष्ठित होता ।

अपने विषयों का प्रकाशन करने से,
ये सब जो हैं वागादि देवता,
उस अन्न को देख कहा मुख्य प्राण से,
यह अन्न तो बस है इतना सा ।

उसे तुमने अपने प्रति आगान कर लिया,
अब पीछे से हमें भी इसमें भागी बनाओ,
तब उनकी बात को सुन मुख्य प्राण ने,
कहा सब ओर से मुझमें प्रवेश कर जाओ ।

सो प्राण के द्वारा पुरुष जो अन्न खाता,
उससे ये अन्य प्राण भी तृप्त होते,
अत: जो इस प्रकार जानता है उसके,
ज्ञातिजन[31] सब ओर से आश्रय ग्रहण करते ।

स्वजनों का भरण करनेवाला होता वो,
उनसे श्रेष्ठ और उनमें अग्रणी होता,
व्याधिशून्य और बलशाली होता वो,
परिजनों का पोषक और आश्रयदाता होता ।

लेकिन ऐसे ज्ञाता के ज्ञातियों में से,
जो कोई भी उसके प्रतिकूल होना चाहता,
तो अपने आश्रितों का वह ज्ञातिजन,
भरण-पोषण करने में समर्थ नहीं होता ।

और जो कोई अनुकूल होता है,
मुख्य प्राण को ऐसे जाननेवाले के,
इसके अनुसार रह सामर्थ्य पा जाता,
भरण-पोषण का अपने आश्रितों के ।

---

[28] अर्थात इस प्राणरूपी देवता ने इन्द्रियों के समस्त पापों को नष्ट करके उन्हें शरीर की सीमा से बाहर कर दिया ।

[29] अर्थात उसे प्राणात्माभिमानशून्य अन्त्यजनों (वे लोग जिनकी प्राण ही आत्मा है यह भावना न हो) में स्थापित कर दिया, इस उद्देश्य से कि उन अन्त्यजनों के पास न जाय अर्थात सम्भाष्ण और दर्शनादि से भी उनका संसर्ग न करे । उनका संसर्ग करने पर पाप से भी संसर्ग होगा, क्योंकि वह पाप का आश्रय है ।

[30] अन्नाद्य-अर्थात जो अन्न भी हो भक्ष्य भी हो ।

[31] ज्ञातिजन-अर्थात बन्धु-बान्धव ।

यह प्राण अयास्य आंगिरस है,
क्योंकि वह है अंगों का सार,
जिस अंग से यह प्राण निकल जाता,
वह अंग वहीं सूख जाता तत्काल ।

वागरूपा हैं समस्त ऋचाएँ यजुर्वेद की,
इसलिए अन्तर्भाव होता प्राण में उनका,
उस वाक् यानी ऋक का यह प्राण पति है,
सो यह प्राण बृहस्पति[32] है, आत्मा उनका ।

वाक् ही ब्रह्म है, अर्थात यजु है,
क्योंकि वह भी वाणी है एक प्रकार की,
उस वाक् यानी ब्रह्म का यह पति है,
इसलिए यह प्राण पूर्ववत है ब्रह्मणस्पति ।

वह यह प्राण ही साम है,
वाक् ही 'सा' है, और 'अम' है प्राण,
'सा' और 'अम' ही साम हैं,
इसी सामत्व से जाना जाता है साम ।

मक्खी, मच्छर, हाथी और त्रिलोकी,
और जगद्रूप हिरण्यगर्भ के समान प्राण,
शरीरमात्र के समान होने से ही नहीं,
बल्कि अमूर्त्त और सर्वगत होने से प्राण ।

इस प्रकार सम होने के कारण,
सामसंज्ञक प्राण को जो पुरुष जानता,
सायुज्य और सालोक्य पाता प्राण का वो,
इस प्रकार उसकी जो उपासना करता ।

यह प्राण ही भक्ति योग्य उद्गीथ,[33]
सब जगत प्राण से ही ऊपर को ठहरा,
'उत' प्राण और 'गीथा' प्राणतन्त्रा वाक् है,
प्राण और वाक् मिल उद्गीथ बनता ।

ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोमभक्षण करते कहा,
मुख्य प्राण ने वाक्संयुक्त प्राण के सिवा,
यदि अन्य देवता द्वारा उद्गान किया हो,
तो यह सोम गिरा दे ये मस्तक मेरा[34] ।

इस सामशब्दवाच्य मुख्य प्राण के,
स्वररूपी धन को जो पुरुष जानता,
धन की सर्वविध उसे प्राप्ति होती,
सस्वर उद्गान उसे समृद्ध कर देता ।

अत: क्योंकि स्वर साम का धन है,
इसलिए साम विभूषित होता उसीसे,
धनी को देखना चाहते लोक में लोग,
यज्ञ में सुरीला उद्गाता भी चाहते वैसे ।

---

[32] वाक् ही बृहती-छत्तीस अक्षरोंवाली बृहत्ती छन्द है और प्राण उसका पति (आश्रय देनेवाला) होने से बृहस्पति है ।

[33] उद्गीथ-यहाँ उद्गीथ से तात्पर्य उद्गान से नहीं है बल्कि साम की अवयवभूत भक्तिविशेष से है । 'उत' अर्थात ऊपर और यह जगत प्राण से ही ऊपर की ओर ठहरा हुआ है अर्थात विधृत (धारण या ग्रहण किया हुआ) है ।

[34] ब्रह्मदत्त ने-इस विषय में यह आख्यायिका है कि चैकितानेय (अर्थात चिकितान के पुत्र परम्परा से) ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोम भक्षण करते हुए इस बात को कहा था कि जो मुख्य प्राण के वाचक आयास्यांगिरस शब्द द्वारा कहा जाता है और जो विश्व की रचना करनेवाले पूर्ववर्ती ऋषियों के सत्र में उद्गाता था, उसने यदि वाक्संयुक्त प्राण से भिन्न किसी अन्य देवता द्वारा उद्गान किया हो तो मैं मिथ्यावादी ठहरूँगा । अत: उसने प्राण और वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था-ऐसा निश्चय होता है ।

जो साम के स्वर को सुवर्णरूप जानते,
वो ऐसे जाननेवाले सुवर्ण को पाते,
वाक् में साम की प्रतिष्ठा जाननेवाले,
इसी प्रकार लोक में प्रतिष्ठा पाते ।

निश्चय वाणी में प्रतिष्ठित हुआ ही,
यह सामरूपी प्राण गाया जाता,
और कोई-कोई यह कहते हैं कि,
अन्न[35] में प्रतिष्ठित हो यह गाया जाता ।

सो वाणी और हृदयगत भावों का संयोग,
सामगान को सफल और अमर बनाता,
धन-धान्य, एश्वर्य और प्रतिष्ठा आदि,
ऐसे गान करनेवाला सबकुछ पा जाता ।

पवमानों[36] का अभ्यारोह[37] कहा जाता अब,
वह प्रस्तोता[38] साम का ही प्रस्ताव करता,
जिस समय वह प्रस्ताव करे, उस समय,
इन मन्त्रों का जाप उचित उसे कहा जाता ।

पहला मन्त्र जपे-'असतो मा सद्गमय,'
फिर दूसरा मन्त्र-'तमसो मा ज्योतिर्गमय,'
इन दोनों मन्त्रों के जपने के बाद,
तीसरा मन्त्र जपे वो-'मृत्योर्मामृतं गमय' ।

असत् से सत् को ले जाओ जब कहता,
तब यहाँ मृत्यु असत् और अमृत है सत्,
मुझे मृत्यु से निकालकर अमर कर दो,
उसके कहने का यह होता है अर्थ ।

ऐसे ही अन्धकार मृत्यु है, ज्योति अमृत,
वो कहता मृत्यु से निकाल अमर कर दो,
और 'मृत्योर्मामृतं गमय' तो स्पष्ट कहता,
कि मुझे मृत्यु से निकाल अमर कर दो ।

इनके बाद जो अन्य स्त्रोत हैं उनमें,
वो अपने लिए अन्नाद्य का आगान करे,
वर माँगे यजमान उनके गान करने के बाद,
और अपने इच्छित भोग की कामना करे ।

वह यह इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता,
अपने या यजमान के लिए जो चाहता,
उसी का आगान करता है वो उद्गाता,
और आगान द्वारा उसे प्राप्त कर लेता ।

प्राणतत्त्व में आत्मतत्त्व का भान हो जिसे,
उसे उसकी प्राप्ति की आशा सम्भव नहीं,
जैसे कि जो पुरुष स्वयं गाँव में मौजूद हो,
मैं गाँव में कब पहुँचूँगा, आशा करता नहीं ।

---

[35] अन्न में-अर्थात अन्न के परिणाम भूत शरीर में ।

[36] पवमान-ज्योतिष्टोम में बारह स्तोत्र हैं जिसमें 'पवमान' नामक तीन स्तोत्र से यजमान के फल का सम्पादन किया जाता है ।

[37] अभ्यारोह-अर्थात ऊपर को चढ़ाव ।

[38] प्रस्तोता-वेदों में उल्लेखित सोलह प्रकार के ऋत्विजों में से एक । भक्ति-गायन नियमानुसार करने वाले ऋत्विजों को प्रस्तोता (सामवेदी ऋत्विक), उद्गाता तथा प्रतिहर्ता (निवारण करने वाला ऋत्विक, उद्गाता का सहायक) नाम से सम्बोधित किया जाता था ।

यह फल उसे प्राप्त होता है जो,
जानता ऐसे महिमावान यथोक्त प्राण को,
इन्द्रियविषयों से अछूता, विशुद्ध आत्मा,
इस प्रकार जान जाता है जो प्राण को ।

चतुर्थ ब्राह्मण

पहले यह पुरुषाकार आत्मा[39] ही था,
सिर और हाथ-पैरवाला पुरुष विराट,
सोचने लगा, मैं कौन हूँ, कैसे लक्षणवाला,
पर अपने से भिन्न दिखा न कोई पदार्थ ।

अपने को ही सर्वात्म रूप से देख,
पूर्वज्न्म का संस्कार जागृत हो उठा,
'मैं सर्वात्म प्रजापति हूँ, इस संस्कारवश,
उसने सबसे पहले 'अहमस्मि' कहा ।

कारणरूप प्रजापति में यह वृत्तान्त घटने से,
उसके कार्यभूत जीव से जब कोई पूछता,
तो पहले 'मैं यह हूँ' कारणभूत नाम बतला,
फिर अपना नाम जो भी हो वो बतलाता ।

कर्म और ज्ञान की भावना का अनुष्ठान,
और अज्ञानादि पापों का उषन[40] करने से,
वह पूर्ववर्ती उषन करनेवाला पुरुष कहलाया,
और प्रजापतित्व को चाहनेवालों से पहले ।

जो इससे पहले प्रजापति होना चाहता,
ऐसा विद्वान उसे दग्ध कर देता,
अर्थात जो उत्कृष्ट साधनावाला होता है,
वह पहले प्रजापतित्व प्राप्त कर लेता ।

वह प्रजापति भयभीत हो गया,
आत्मनाशरूप विपरीत ज्ञान के कारण,
आज भी अकेला होने पर पुरुष डरता है,
इसीलिए, उससे समानता होने के कारण ।

फिर विचार किया मुझ आत्मा के सिवा,
इसका प्रतिद्वन्दी कोई और पदार्थ नहीं,
आत्मनाश के कारण के अभाव में,
मेरे डरने का कोई कारण उपस्थित नहीं ।

वह प्रजापति नहीं हुआ रममाण,[41]
सो अब भी धर्मवान अकेले में न रमता,
तब उसने अरति[42] की निवृत्ति के लिए,
दूसरी वस्तु-स्त्री की करी अभिलाषा ।

तब उसने इस अपने देह को ही,
दो भागों में ऐसे विभक्त कर डाला,
लोक में परस्पर आलिंगित स्त्री-पुरुष से,
उसी परिमाणवाला उसे बना डाला ।

---

[39] पुरुषाकार आत्मा-अर्थात अण्डे से उत्पन्न हुआ प्रथम शरीरी प्रजापति ।

[40] उषन-अर्थात दग्ध करना ।

[41] रममाण-अर्थात जिसमे रमण की इच्छा हो ।

[42] अरति-इष्ट विषय के संयोग से होनेवाली क्रीड़ा का नाम रति है और उसमें आसक्त पुरुष के मन से इष्ट वस्तु का वियोग होने पर जो व्याकुलता होती है उस व्याकुलता को अरति कहते हैं ।

इसलिए यह शरीर अर्द्धबृगल[43] समान है,
यह (पुरुषार्ध) आकाश स्त्री से पूर्ण होता,
वह उस स्त्री से संयुक्त हुआ[44] जिससे,
प्रारम्भ हुआ लोक में सन्तति का होना ।

शतरूपा ने सोचा अपने से उत्पन्न कर,
क्यों यह मेरे साथ ऐसा व्यवहार करता,
तो वह गौ हो गयी, वह वृषभ हो गया,
इससे लोक में गाय और बैल हुए पैदा ।

फिर क्रमश: वो घोड़ी, गर्दभी हो गयी,
और वो घोड़ा और गर्दभ हो गया,
ऐसे ही वो बकरी से चींटी तक बनी,
और यह जग प्राणियों से भर गया ।

'मैं ही सृष्टि हूँ' जाना प्रजापति ने,
सोचा, मैंने इस सृष्टि को रच डाला,
उस 'सृष्टि' नामवाले को जो ऐसे जानता,
प्रजापति की इस सृष्टि में, सृष्टा[45] होता ।

इस प्रकार सृष्टि कर जगत की,
फिर अग्नि को उत्पन्न किया उसने,
मुख में हाथ डाल, हाथों से मन्थन कर,
अग्नि और ब्राह्मणों को[46] रचा उसने ।

ऐसे ही बल की आश्रयभूत भुजाओं से उसने,
क्षत्रियों और उनके नियन्ता इन्द्रादि को रचा,
ऊरुओं से वैश्य और नियन्ता वसु आदि देव,
चरणों से पूषा आदि देव और शूद्रों को रचा ।

याज्ञिक लोग अग्नि और इन्द्र आदि को,
भिन्न-भिन्न मान जो यजन करने को कहते,
सो वह तो इस एक ही देव की विसृष्टि है,
यह प्रजापति ही सर्वदेवरूप, सब उसीके रचे ।

और यह जो कुछ लोक में द्रवात्मक है,
बीज रेतस् से उसने उत्पन्न किया उसे,
सोम भी द्रवात्मक होता है इसलिए,
जो कुछ द्रवात्मक है सोम ही जानें उसे ।

यह सब इतना ही है, अधिक नहीं,
सोम ही अन्न है और अग्नि अन्नाद,[47]
जो भक्षण किया जाता वो अन्न है,
और जो भक्षण करता है वो अन्नाद ।

यह ब्रह्मा की अतिसृष्टि[48] है कि उसने,
अपने से उत्कृष्ट देवताओं को रचा,
स्वयं मरण-धर्मा होने पर भी उसने,
पाप दग्ध कर, अमृत-देवताओं को रचा ।

---

[43] अर्द्धबृगल-अर्थात द्विदल अन्न का एक दल । इस शरीर को अर्द्धबृगल के समान याज्ञवल्क्य ने कहा ।

[44] तब वह मनुसंज्ञक प्रजापति अपनी पत्नीरूप कल्पना की हुई उस अपनी ही शतरूपा नाम की कन्या से संयुक्त हुआ जिससे मनुष्य उत्पन्न हुए ।

[45] जो इस प्रकार प्रजापति के समान उपर्युक्त अपने से अभिन्न जगत को 'अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव के सहित सारा जगत मैं हूँ' इस प्रकार जानता है, इस जगत में वह प्रजापति के समान अपने से अनन्यभूत जगत का सृष्टा होता है ।

[46] अग्नि और ब्राह्मणों को-मुख और हाथ दोनों ही दाह करनेवाले अग्निदेव से सम्बद्ध होने के कारण लोमरहित हैं और ब्राह्मण और अग्नि दोनों प्रजापति के मुख से उत्पन्न होने के कारण बड़े भाई की तरह अग्नि ब्राह्मणों पर विशेष अनुग्रह करता है । मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण वेदमन्त्र आदि का मुख से उच्चारण करनेवाले हुए, मुख उनका विशेष बलशाली अंग हुआ ।

[47] द्रवात्मक होने के कारण सोम पोषक अन्न (अर्थात भोग्य) है, और उष्णता और रुक्षता होने के कारण अग्नि अन्नाद (अर्थात भोक्ता) है ।

[48] अतिसृष्टि-अर्थात अपने से बढ़कर-श्रेष्ठ रचना ।

यह अतिसृष्टि, उत्कृष्ट ज्ञान का फल,
प्रजापति की आत्मभूता को जो यों जानता,
प्रजापति समान होता इस अतिसृष्टि में,
उसके समान ही जगत का सृष्टा होता ।

उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था यह जगत,
नाम-रूप के योग से हुआ व्यक्त ये,
वह व्याकर्ता सारे शरीर में ऐसे व्याप्त है,
जैसे अग्नि व्याप्त रहता काष्ठादि में ।

वह अव्याकृत ही यह जगत है,
और यह जगत ही वह अव्याकृत था,
क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती,
और नाश नहीं हो सकता सत्यकार्य का ।

प्राणन क्रिया के कारण ही वह प्राण है,
बोलने से वाक् है, चक्षु है देखने से,
सुनने से श्रोत्र, मनन के कारण मन,
ये उसके नाम, जो लक्षित होते कर्म से ।

इनमें से जो एक-एक की उपासना करता,
वह असम्पूर्ण ही है, वो नहीं जानता,
अत: 'आत्मा है' ऐसे इसकी उपासना करे,
क्योंकि इसमें ही उनका एकत्व हो जाता ।

यह आत्मा ही इस सबका प्राप्तव्य है,
इसके जानने से सब जगत जाना जाता,
पदचिन्ह से मिल जाता जैसे खोया पशु,
इसका ज्ञाता यश और इष्ट-संगत पाता ।

अत्यन्त समीपवर्ती है यह आत्मतत्त्व,
धन, प्राण, पुत्रादि से भी अधिक प्रियतर,
ऐसा आत्मप्रियवादी अनात्मप्रिय को जो कहे,
'तेरा प्रिय नष्ट हो जाए,' तो रहेगा होकर ।

ऐसा कहने में समर्थ होता आत्मप्रियवादी,
उसके यथार्थवादी होने से होता है ऐसा,
सो आत्मा-रूप प्रिय का जो होता उपासक,
उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील नहीं होता[49] ।

जिसके लिए यह सारी उपनिषद् है,
अब श्रुति उस प्रयोजन का वर्णन करती,
'हम सर्व अर्थात अशेष हो जाएँगे,'
ब्रह्मविद्या[50] इस लक्ष्य को प्राप्त कराती ।

लोग जिस प्रकार कर्मों के विषय में,
कर्मफल प्राप्ति को निश्चित मानते,
उसी प्रकार से सर्वात्मभाव की प्राप्ति,
ब्रह्मविद्या द्वारा वो निश्चित मानते ।

कुछ न जानकर यदि सर्वरूप[51] है ब्रह्म,
तो फिर ब्रह्मविद्या का क्या फायदा,
यदि कुछ जानकर हुआ है वो सर्वरूप तो,
सर्वात्मत्व की अनित्यता का प्रश्न उठता ।

यदि कुछ जानकर ही सर्व हुआ ब्रह्म,
तो प्रश्न है उस ब्रह्म ने क्या जाना,
श्रुति, जिसमें किसी दोष की गन्ध नहीं,
इस प्रकार उत्तर देती है इस प्रश्न का ।

---

[49] अर्थात वे दीर्घजीवी होते हैं ।

[50] ब्रह्मविद्या-ब्रह्म परमात्मा को कहते हैं और वह जिससे जाना जाता है वह 'ब्रह्मविद्या' है । जिसे जानने से 'हम सर्व अर्थात अशेष हो जाएँगे' यह वह विद्या है, मनुष्य ऐसा मानते हैं, अर्थात मनुष्य का ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का अधिकार यहाँ लक्षित है ।

[51] सर्वरूप-अर्थात अपनी विशेषता से युक्त । यदि ब्रह्म ब्रह्मविद्या द्वारा सर्वात्म हुआ अर्थात अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ है तो ब्रह्मविद्या के फलभूत सर्वात्मत्व की अनित्यता का प्रसंग आता है तथा वह (ब्रह्म) अपने से भिन्न पदार्थ को जानकर सर्व हुआ था-इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होता है ।

पहले यह ब्रह्म[52] ही था जिसने,
'मैं ब्रह्म हूँ' जाना अपने ही को,
ऐसा जान वो सर्वरूप हो गया और,
तद्रूप हो गए देवता, उसे जानते जो ।

ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में भी,
जिसने उसे जाना वो तद्रूप हो गया,
'मैं ब्रह्म हूँ' जान वामदेव[53] ऋषि बोले,
'मैं मनु हो गया, मैं सूर्य हो गया' ।

उस इस ब्रह्म को इस समय भी,
'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार से जो जानता,
सर्व हो, अजेय हो जाता देवों से भी,
क्योंकि वो उनका आत्मा ही हो जाता ।

जो अन्य देवताओं की अन्य भाव से,[54]
उपासना करता है, वह नहीं जानता,
जैसे मनुष्य के लिए पशु[55] होता है,
वो देवताओं के लिए वैसे पशु हो जाता ।

अपने पालनकर्ता उन पशुओं का हरण,
मानवों सा ही उन्हें भी अच्छा नहीं लगता,
इसलिए देवताओं को यह प्रिय नहीं है,
कि ब्रह्मतत्त्व को जान बनें वे ब्रह्मवेत्ता ।

आरम्भ में यह ब्रह्म[56] एक ही था,
असमर्थ विभूतियुक्त[57] कर्म करने में,
'मैं ब्राह्मण[58] हूँ' मेरा कर्त्तव्य है ऐसा सोच,
क्षत्र-प्रशस्त रूप[59] की रचना की उसने ।

अत: क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं,
राजसूययज्ञ में[60] ब्राह्मण नीचे बैठता,
नीचे बैठकर उपासना करता क्षत्रिय की,
उसी में अपने यश को स्थापित करता ।

उत्कृष्टता को प्राप्त होकर भी राजा,
उस राजसूय यज्ञ के समाप्त होने पर,
क्षत्रिय का प्रजापति[61] है जो यह ब्रह्म,
कृतार्थ होता उसका आश्रय ग्रहण कर ।

---

[52] यहाँ ब्रह्म शब्द से अपरब्रह्म समझना चाहिए क्योंकि उसी का सर्वरूप होना विज्ञानसाध्य हो सकता है । अथवा यहाँ मनुष्य का अधिकरण होने से 'ब्रह्म' शब्द से ब्रह्मरूपता को प्राप्त होनेवाला ब्राह्मण समझा जा सकता है । यहाँ मनुष्यों के अभ्युदय का प्रसंग होने से ब्रह्म का तात्पर्य परब्रह्म या अपरब्रह्म प्रजापति का नहीं ।

[53] वामदेव ऋषि-देखें ऐतरेयोपनिषद् द्वितीय अध्याय, प्रथम खण्ड ।

[54] अन्य भाव से-अर्थात वे देवता अन्य हैं और मैं अन्य हूँ ।

[55] पशु-अर्थात पाश से बंधा हुआ; परतन्त्र ।

[56] यह ब्रह्म-अर्थात अग्नि को रचकर जो अग्निरूप को प्राप्त हुआ वह ब्रह्म ।

[57] विभूतियुक्त कर्म-अर्थात श्रेष्ठ, उत्तम कर्म, यश देनेवाले कर्म ।

[58] इस अध्याय में आरम्भ में अग्निरूप प्रजापति की उत्पत्ति दिखलाई है और अग्नि ब्राह्मण जाति का उपकारक देव होने से उसे ब्राह्मण जाति का अभिमान होना स्वभाविक है ।

[59] क्षत्र-प्रशस्त रूप-अर्थात क्षत्रिय वर्ग; देवताओं में उनका राजा इन्द्र, जलचरों का अधिपति वरुण, ब्राह्मणों का राजा सोम, रूद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि को उत्पन्न किया ।

[60] राजसूय यज्ञ में अभिषिक्त मंचस्थ राजा के द्वारा 'ब्रह्मण !' पुकारे जाने पर ऋत्विक उत्तर में उसे कहता है 'हे राजन ! तुम ब्रह्म हो' और इसीको ब्राह्मण द्वारा उसमें अपना यश स्थापित करना कहा जाता है ।

[61] प्रजापति=अर्थात उसे उत्पन्न करनेवाला ।

जो क्षत्रिय ब्राह्मण की हिंसा करता,
अपने ही प्रजापति का नाश करता,
श्रेष्ठ की हिंसा से जैसे पापी होता पुरुष,
वैसे ही वो भी पाप का वरण करता ।

समर्थ न हुआ विभूतियुक्त कर्म करने में,
तो वैश्य जाति की रचना करी उसने,
वसु, रूद्र, आदित्य, विश्वदेव, मरुत् आदि,
गणश:[62] कहे जानेवाले देवों को रचा उसने ।

फिर भी समर्थ हुआ नहीं वो,
अभी विभूतियुक्त कर्म करने में,
सो अभाव मिटाने सेवक वर्ग का,
शुद्र वर्ण की रचना करी उसने ।

पूषा अर्थात जो पोषण करता है,
इसी पूषा को शुद्रवर्ण कहा जाता,
जो कुछ है उसका पोषण करती,
इसलिए पृथ्वी को पूषा कहा जाता ।

चारों वर्णों की रचना करने पर भी,
समर्थ हुआ नहीं वो अपने उद्देश्य में,
तब कल्याणस्वरूप धर्म की सृष्टि की,
क्षत्रिय को भी नियंत्रण[63] में रखा जिसने ।

इसलिए धर्म से उत्कृष्ट कुछ नहीं,
निर्बल को भी धर्म सबल बना देता,
वैसे ही जैसे राजा की सहायता पाकर,
कोई भी शत्रु पर विजय पा लेता ।

वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है,
सत्यवादी को कहते, धर्ममय वचन बोलता,
धर्ममय जो बोलता, सत्यवादी कहाता,
दोनों को ही धर्म है, ऐसा कहा जाता ।

चारों वर्णों को उत्पन्न करनेवाला ब्रह्म,
देवताओं में अग्निरूप से ब्राह्मण हुआ,
मनुष्यों में ब्राह्मणरूप से ब्राह्मण तथा,
वर्णानुसार क्षत्रिय, वैश्य व शुद्ररूप हुआ ।

इसी से ही अग्नि में कर्म करके,[64]
देवों के बीच कर्मफल की इच्छा करते,
मनुष्यों में कर्मफल की इच्छा होने पर,
ब्राह्मण में[65] कर्मसिद्धि प्राप्त कर लेते ।

---

[62] गणश:-अर्थात जो एक-एक गण करके कहे जाते हैं; वैश्य लोग गणप्राय होते हैं, वे प्राय: अनेक मिलकर ही धनोपार्जन में समर्थ होते हैं, एक-एक करके नहीं । वसु आठ संख्या का गण है, रूद्र ग्यारह का और आदित्य बारह हैं । विश्वदेव तेरह हैं-ये सभी विश्वा के पुत्र हैं । इसी प्रकार मरुद्गण उनचास हैं ।

[63] उग्र होने के कारण क्षत्रिय जाति नियंत्रण में नहीं रह सकती-इस आशंका से वह विभूतियुक्त कर्म करने में असमर्थ रहा इसलिए उन्हें भी नियंत्रण में रखने के लिए उसने धर्म की सृष्टि की ।

[64] क्योंकि सृष्टिकर्ता ब्रह्म क्षत्रियादि में विकार को प्राप्त हो गया है, केवल अग्नि और ब्राह्मण में ही वह निर्विकार है, इसलिए लोग अग्नि के बीच में ही देवताओं के लिए लोक-कर्मफल की इच्छा करते हैं । अर्थात अग्नि सम्बन्धी कर्म करके उसके फल की इच्छा करते हैं ।

[65] अर्थात ब्राह्मण जाति मात्र का स्वरूप प्राप्त कर लेने पर पुरुषार्थ सिद्धि हो जाती है । जहाँ पुरुषार्थ की सिद्धि देवाधीन है वहाँ अग्नि आदि से सम्बन्ध रखनेवाली कर्मों की अपेक्षा होती है । ब्राह्मण कर्म करे या न करे, केवल जप से ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

आत्मलोक का दर्शन किए बिना ही,
जो कोई चला जाता इस लोक से,
उसके शोक-मोहादि की निवृत्ति नहीं होती,
अननुक्त कुछ न पाता लोक में जैसे[66] ।

इस लोक में किया महान पुण्यकर्म भी,
अन्त में क्षीण हो जाता है उनका,
सो आत्मलोक की उपासना[67] ही उचित है,
जिससे प्राप्त कर लेते वे सभी कामना ।

यह जो कर्माधिकारी अज्ञानी गृहस्थरूप,
शरीरेन्द्रियसंघातरूपी[68] आत्मा भोग्य सबका,
वह जो हवन और यज्ञ आदि करता है,
वर्णाश्रम कर्म द्वारा उपकार करता सबका ।

स्वत्व को त्यागकर वस्तु का समर्पण,
देवताओं के निमित्त, यजन कहलाता,
और उसी में जब आहुति भी दी जाती,
तब उस कर्म को 'होम' कहा जाता ।

उस होम-यजनरूपी कर्म से पुरुष,
उसकी अवश्य कर्त्तव्यता के कारण,
पशु सा बंधा हुआ भोग्य है उनका,
देवताओं के अधीन होने के कारण ।

स्वाध्याय से भोग्य होता ऋषियों का,
पिण्डदान, संतान की इच्छा से पितरों का,
मनुष्यों का निवास और भोजन देने से,
तृण और जलादि देने से भोग्य पशुओं का ।

जिस प्रकार लोक में सब लोग,
अविनाश चाहते हैं अपने शरीर का,
उसी प्रकार दुनिया के सब जीव चाहते,
अविनाश उस ऐसे जाननेवाले का ।

पहले वह अकेला आत्मा[69] ही था,
'मेरी स्त्री हो' ऐसी कामना की उसने,
फिर सन्तान रूप में उत्पन्न होऊँ मैं,
और सम्पन्न हो कर्म करूँ, सोचा उसने ।

ये जो स्त्री, पुत्र, वित्त और कर्म हैं,
कामना करने योग्य विषय हैं बस ये ही,
ये साधन भी और साधनरूप एषणा है,
इस साधनैषणा के फल हैं तीनों लोक ही ।

इन्हीं तीनों लोकों के लिए ही,
ये उपरोक्त कर्मरूपा साधन एषणा होती
सारे आरम्भ फल के लिए ही होते,
ये लोकैषणा ही साध्य-साधनरूप होती ।

ये साध्य-साधनरूप लोकैषणा ही 'काम' हैं,
जिनसे प्रेरित पुरुष बन्धन में बन्ध जाता,
अपने को कर्म-मार्ग में ही अटकाए रखकर,
बहिर्मुख हो, आत्मलोक को जान नहीं पाता ।

---

[66] अननुक्त-अर्थात बिना अध्ययन किया हुआ वेद कर्मादि का अवबोधकरूप (अर्थात ज्ञानयुक्त उचित कर्म) से पालन नहीं करता एवं अन्य कृषि आदि लौकिक कर्म अकृत यानी अपने स्वरूप से अभिव्यक्त न होने पर अपने अपने फल प्रदान के द्वारा पालन नहीं करता ।

[67] आत्मलोक की उपासना-अर्थात आत्मा की उपासना ।

[68] शरीरेन्द्रियसंघातरूपी-अर्थात शरीर और इन्द्रयों का संयोग रूपी ।

[69] अकेला आत्मा-अर्थात स्वभाविक देह और इन्द्रियों का संघातरूप वर्णी (ब्रह्मचारी) जो स्त्री आदि एषणा की बीजभूता अविद्या से युक्त था-ऐसे कर्म करने के लिए जिससे उऋण होकर देवादि लोकों को प्राप्त कर सके ।

कामनाओं का तो कोई अन्त नहीं है,
पर इससे अधिक कोई पा सकता नहीं,
फल और साधन से बढ़कर कोई भी,
दृष्ट या अदृष्ट प्राप्तव्य पदार्थ नहीं ।

पहले अज्ञानवश भय हुआ प्रजापति को,
फिर स्त्री की इच्छाकर, सृष्टि रची उसने,
सो अब भी एकाकी पुरुष कामना करता,
कि स्त्री, पुत्र, धन आदि प्राप्त हों उसे ।

इनमें से एक-एक को भी वह,
जब तक प्राप्त नहीं कर लेता,
अपूर्ण मानता अपने को तब तक,
पूर्ण होने की कामना करता रहता ।

पूर्णता सम्पादन में जब समर्थ नहीं होता,
तब उसकी पूर्णता के लिए श्रुति कहती,
मन ही आत्मा के समान इसका आत्मा,
मन का अनुवर्तन करनेवाली वाणी स्त्री ।

मन और वाणी से कर्म-सम्पादन हो सके,
इसके लिए जन्में प्राण, सन्तान उसकी,
नेत्र से दिखाई देनेवाले धन से साध्य कर्म,
इसलिए नेत्र से तुलना मानुष वित्त की ।

विज्ञानादि सुनता जिनसे वो श्रोत्र देववित्त,
जीव के कर्म का हेतु शरीर आत्मा उसका,
ऐसा जानने से पूर्णता निष्पन्न हो जाती,
यह यज्ञ यों निष्पन्न हुआ पाङ्क्त द्वारा[70] ।

पाङ्क्त द्वारा निष्पन्न यह आत्मदर्शन यज्ञ,
बिना कर्म भी सम्पन्न होता दृष्टिमात्र से,
क्योंकि ब्राह्ययज्ञ भी पुरुष व पशु से साध्य,
जो सम्बद्ध मन, वाणी आदि पञ्चत्व से ।

पुरुष और पशु सम्बद्ध हैं पञ्चत्व से,
कर्म का साधन और फल भी पञ्चत्व से,
जो इस पञ्चत्व को इस प्रकार जानता,
पा जाता सम्पूर्ण जगत आत्मस्वरूप से ।

पञ्चम ब्राह्मण

प्रजापति ने बुद्धि और कर्म के द्वारा,
सात अन्न रचे, जिनमें साधारण[71] एक,
दो अन्न बाँट दिए उसने देवताओं में,
तीन अपने लिए, पशुओं के लिए एक ।

पशुओं को दिए अन्न में प्रतिष्ठित सभी,
जो प्राणन क्रिया करते, या नहीं करते,
यह अन्न क्षीण क्यों नहीं होता जो जानते,
अन्न, देवताओं और अमृत को पाते ।

प्रसिद्द है कि ज्ञान और कर्म के द्वारा ही,
पिता प्रजापति ने किया अन्न को उत्पन्न,
उसका एक अन्न जो यह खाया जाता है,
वही है उसका रचा हुआ साधारण अन्न ।

[70] पाङ्क्त द्वारा-अर्थात मन, वाणी, प्राण, नेत्र और श्रोत्र इन पाँच द्वारा ।

[71] साधारण-अर्थात सभी प्राणियों का भोग्य ।

शरीर का पालनकर्ता भक्षणीय अन्न,
जो बस इसका ही उपभोग करता,[72]
वह इस प्रकार का पुरुष लोक में,
अधर्म से छुटकारा पा नहीं सकता ।

सभी का मिश्र-धन होता है अन्न,
सभी का उस अन्न पर हक होता,
अत: बिना बाँटे मुख में अन्न डालना,
औरों के लिए पीड़ा देनेवाला होता ।

हुत और प्रहुत[73] वे दो अन्न हैं जो,
पिता ने रचकर बाँटे देवताओं में,
इसलिए गृहस्थ अब भी हवन करते,
और बलिहरण करते देवताओं के लिए ।

किन्ही दूसरों का कहना है ऐसा,
कि हुत और प्रहुत नहीं हैं वो अन्न,
बल्कि वे हैं दर्श[74] और पूर्णमास जो,
श्रुतिप्रतिपादित और प्रसिद्द देवान्न ।

क्योंकि ये दर्श और पूर्णमाससंज्ञक अन्न,
पिता-प्रजापति ने बनाए देवताओं के लिए,
अत: केवल कामनायुक्त यज्ञ उचित नहीं,
उनकी देवतार्थता व्यर्थ न करने के लिए ।

पशुओं को जो एक अन्न दिया गया,
वो दुग्ध है[75] जो पिता ने दिया उन्हें,
मनुष्य और पशु दोनों को चाहिए दुग्ध,
आरम्भ में जीवन धारण करने के लिए ।

इसलिए उत्पन्न हुए बालक को पहले,
घृत चटाते हैं या स्तनपान कराते,
और उत्पन्न हुए बछड़े को भी अतृणाद,
यानी तृण भक्षण न करनेवाला कहते ।

जो प्राणन क्रिया करते, और न करते,
वे सब प्रतिष्ठित हैं इसी पश्वन्न में,
यानी प्राणचेष्टायुक्त और स्थावर भी,
यह सारा जगत प्रतिष्ठित है उसी में ।

एक वर्ष दुग्ध से हवन करनेवाला,
पुनर्मृत्यु[76] को जीत लेता, कहा जाता,
लेकिन दुग्ध से हवन के पहले दिन ही,
वो जगत के आत्मतत्त्व को पा लेता ।

इस प्रकार उपासना करनेवाला पुरुष,
देवताओं को सम्पूर्ण अन्नाद्य देता,
अपने को सर्व आहुतिमय करके वो,
देवताओं संग एकत्व प्राप्त कर लेता ।

लेकिन सर्वदा खाये जाने पर भी,
वे अन्न क्षीण क्यों नहीं होते,
क्योंकि पितारूपी अविनाशी पुरुष द्वारा,
ये अन्न उत्पन्न किये जाते रहते ।

जो जानता पुरुष ही क्षयरहित है वो,
ज्ञान और कर्म से अन्न उत्पन्न कर देता,
यदि वह इसे उत्पन्न नहीं करता तो,
यह अन्न अवश्य ही क्षीण हो रहता ।

---

[72] अर्थात अदृष्टोत्पाद्ककर्म (अर्थात पुण्यकर्म) प्रधान नही है ।

[73] हुत और प्रहुत-हुत जो अग्नि में हवन कर दिया जाता है और प्रहुत जो देवताओं के लिए निकालकर रख दिया जाता है-अर्थात 'बलिहरण' ।

[74] दर्श-अर्थात अमावस्या ।

[75] दुग्ध-मनुष्य और पशु दोनों आरम्भ में दुग्ध के आश्रय ही जीवन धारण करते हैं ।

[76] पुनर्मृत्यु-अर्थात दूसरी बार मरने को जीत लेता है ।

जो ऐसे पुरुष का अक्षितित्व[77] जानता,
वह प्रधानता से[78] ही अन्न भक्षण करता,
देवात्मभाव प्राप्त कर लेनेवाले सा और
अमृत का परजीवी सा वो प्रशंसित होता,

मन, वाणी और प्राण ये तीन अन्न,
इन तीनों को किया अपने लिए उसने,
न देखता, न सुनता जब मन अन्यत्र हो,
सो मनुष्य देखता और सुनता मन से ।

काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा,
घृति, अघृति, लज्जा, बुद्धि और डर,
ये सब-के-सब भाव हैं मन के ही रूप,
विवेक से जान लेता पीछे स्पर्श पाकर ।

जो भी शब्द है लोक में, वाणी है,
जो नाम से बोध कराती वस्तु का,
लेकिन यह स्वयं प्रकाश्य नहीं है,
यह तो अभिधेय[79] की है प्रकाशिका ।

वायु की मुख और नासिका में संचार वृत्ति,
वह प्रणयन के कारण कहलाती है प्राण,
मल-मूत्रादि को नीचे की ओर ले जानेवाली,
नाभि तक रहनेवाली वायु कहलाती अपान ।

बल की अपेक्षा रखनेवाले कर्मों का कारण,
प्राण-अपान की सन्धि को कहते व्यान,
उत्कृष्ट और उर्ध्वगमन आदि का हेतु,
नीच से ऊपर को गतिवाला वायु उदान[80] ।

खाये-पीये अन्न को पचानेवाला,
उदर में स्थित वायु कहलाता है 'समान',
सामान्य चेष्टा से सम्बन्धित 'अन',
यह प्राणादि समस्त वृत्तिसमुदाय ही प्राण ।

मन, वाणी और प्राणसंज्ञक ये,
अध्यात्मिक अन्न हैं इस प्रकार,
वाकमय, मनोमय और प्राणमय,
यह आत्मा (शरीर) है इस प्रकार ।

भूः, भुवः और स्वः नामक,
वाक्, मन और प्राण ही हैं ये लोक,
यह लोक वाक्, अन्तरिक्षलोक मन,
और प्राण ही है वह स्वर्गलोक ।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद,
देवता, पितृगण और मनुष्य भी,
क्रमशः वाक्, मन और प्राण हैं,
पिता, माता और प्रजा भी ये ही ।

जो ज्ञात, विजिज्ञास्य[81] या अज्ञात है,
वो यही वाक्, मन और प्राण तीनों,
जो जाना जा चुका, रूप वाणी का,
विज्ञात हो वाणी[82] बचाती ज्ञाता को ।

जो ज्ञेय है वो मन का रूप है,
क्योंकि जानने की इच्छा मन करता,
जो स्पष्ट जानने के लिए इष्ट है,
विजिज्ञास्य हो मन इसकी रक्षा करता ।

---

[77] अक्षिति-अर्थात ऊपर बतलाये हुए अक्षय के हेतु को कि पुरुष ही अक्षिति है ।

[78] प्रधानता से-अर्थात उत्कृष्टता से, सजग होकर, अन्न के प्रति गौण होकर नहीं । वह अन्न का भोक्ता होता है, भोग्य नहीं ।

[79] अभिधेय-अर्थात विषयवस्तु ।

[80] देखें प्रश्नोपनिषद्-द्वितीय प्रश्न ।

[81] विजिज्ञास्य-अर्थात स्पष्ट जानने के लिए इष्ट; जो ज्ञेयमान हो ।

[82] विज्ञात हो वाणी-अर्थात विज्ञात हो (अन्नरूप से) उसका पालन करती है ।

जो कुछ विज्ञान का विषय नहीं,
वह अविज्ञात रूप है प्राण का,
प्राण ही अविज्ञात है, अविज्ञात होकर,
प्राण ही इसलिए इसकी रक्षा करता ।

पृथ्वी शरीर यानी ब्राह्य आधार वाक् का,
पृथ्वी का अधिभूत अग्नि ज्योतिरूप उसका,
वाणी के परिमाणवाली ही पृथ्वी भी है,
आधेय[83] और करणरूप से अग्नि भी उतना ।

प्राजापत्य अन्नरूप से कहे इस मन का,
द्युलोक शरीर अर्थात आधार है उसका,
आदित्य ज्योतिरूप करण यानी आधेय है,
मन के जितना ही परिमाण है इनका ।

इन आदित्य और अग्नि के संसर्ग से,
यह वायु अर्थात प्राण हुआ उत्पन्न,
जो उत्पन्न हुआ असपत्न[84] इन्द्र था,
प्राण का ऐसा ज्ञाता भी होता असपत्न ।

प्राजापत्य अन्नरूप से कहे इस प्राण का,
जल शरीर अर्थात आधार है उसका,
चन्द्रमा ज्योतिरूप करण यानी आधेय है,
प्राण के जितना ही परिमाण है इनका ।

वैसे तो समान और अनन्त हैं ये सभी,[85]
पर अन्तशील समझ जो इन्हें उपासता,
अन्तशील लोक पर ही विजय पाता वो,
जो अनन्त समझता, अनन्त लोक पाता ।

वह यह जो है संवत्सर[86] प्रजापति,
तीन अन्नरूप, सोलह कलाओंवाला,
उसकी रात्रियाँ ही पन्द्रह कला हैं,
और ध्रुवा[87] है उसकी सोलहवीं कला ।

शुक्लपक्ष में रात्रियों के द्वारा ही,
यह वृद्धि को होता रहता है प्राप्त,
और कृष्णपक्ष की पन्द्रह रात्रियों में,
यह क्षीणता को करता रहता प्राप्त ।

अमावस्या की रात्रि सोलहवीं कला से,
वह अनुप्रविष्ट होता[88] इन सब प्राणियों में,
अमावस्या की रात्रि समाप्त होने पर,
फिर दूसरे दिन उत्पन्न होता प्रात:काल में ।

इसलिए इस अमावस्या की रात्रि को,
निषेध है किसी भी प्राणी की हिंसा का,
यहाँ तक की अमावस्या की रात्रि में,
विच्छेद न हो छिपकली के अंग तक का ।

कहा गया जो भी सोलह कलाओंवाला,
यह संवत्सर प्रजापति परोक्षरूप से,
वह यहीं प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है,
मात्र परोक्ष ही नहीं मानना चाहिए उसे ।

---

[83] आधेय-अर्थात ठहराने या स्थापित किए जाने योग्य ।

[84] सपत्न-अर्थात सौत की तरह द्वेष रखनेवाला; असपत्न अर्थात जिसका ऐसा शत्रु न हो ।

[85] ये सभी-अर्थात वाक्, मन और प्राण सब समान अर्थात तुल्य परिमाण-फैलाववाले हैं ।

[86] संवत्सर-अर्थात कालरूप; चन्द्रमारूपी प्रजापति ।

[87] ध्रुवा-अर्थात नित्य ।

[88] अर्थात प्राणी समुदाय में अनुप्रवेश कर जल पीता है और जो ओषधि खाता है, उन सभी में ओषधिरूप से व्याप्त हो अमावस्या की रात्रि स्थित रह दूसरे दिन द्वितीय कला से संयुक्त होकर उत्पन्न होता है ।

उस इस प्रकार से जाननेवाले पुरुष की,
गौ आदि वित्त ही हैं पन्द्रह कलाएँ,
क्योंकि ये वित्त वृद्धिह्रास वाले हैं,
उस विज्ञ का पिण्ड है पूर्णता के लिए[89] ।

रथचक्र का नाभिरूप है पिण्ड (आत्मा),
और धन रथचक्र के बाहर का घेरा,
सो यदि सारा धन भी नष्ट हो जाए तो,
कहते हैं अभी तो शरीर बचा है मेरा ।

शास्त्रोक्त साधन से प्राप्त होने योग्य,
बस तीन ही लोक हैं, न कम, न ज्यादा,
मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक हैं वे,
पृथक-पृथक साधनों से जिन्हें जीता जाता ।

मनुष्यलोक पुत्र से, पितृलोक कर्म से,
और देवलोक विद्या से जीता जाता,
तीनों लोकों में देवलोक ही श्रेष्ठ है,
इसलिए विद्या की करी जाती प्रशंसा ।

अब सम्प्रति[90] का वर्णन किया जाता जिसे,
पिता अपने पीछे पुत्र को सौंप कर जाता,
जब पिता समझता मैं मरनेवाला हूँ,
तो अपने पुत्र को वह यह उपदेश करता ।

वह मरणासन्न पिता पुत्र से कहता,
'तू ब्रह्म है', 'तू यज्ञ है' और 'तू है लोक',
पहले से जानता वह शिक्षित पुत्र कहता,
'मैं ब्रह्म हूँ, 'मैं यज्ञ हूँ' और 'मैं हूँ लोक' ।

जो कुछ भी अध्ययन किया, या न किया,
उस सबकी इस 'ब्रह्म' पद में है एकता,
सो जो वेदाध्याय अभी पिता का कर्त्तव्य था,
अब से कर्त्तव्य होगा वह उस पुत्र का ।

इसी प्रकार कृत और अकृत यज्ञ की,
'यज्ञ' नाम से कहे गए पद में है एकता,
सो जो यज्ञ पिता द्वारा किए जानेवाले थे,
उनका करना कर्त्तव्य अब होगा पुत्र का ।

ऐसे ही विजित और अविजित लोकों की,
'लोक' नाम से कहे गए पद में है एकता,
सो पिता पुत्र को कहता कि अब से,
तेरा कर्त्तव्य होगा उन लोकों को जीतना ।

सो अध्ययन, यज्ञ और लोकजय सम्बन्धी,
संकल्प सौंप देता पिता अपने पुत्र को,
और ऐसा कर वह उनसे मुक्त हो जाता,
शिक्षित होने से पुत्र भी समझ लेता उनको ।

इस प्रकार अनुशासन किए हुए पुत्र को,
लोकप्राप्ति में हितकर कहते हैं लोक में,
ऐसा पिता जब इस लोक से प्रयाण करता,
उन्हीं प्राणों सहित व्याप्त[91] हो जाता उसमें ।

यदि किसी प्रमाद के कारण पिता द्वारा,
किसी कर्त्तव्य का पालन नहीं किया होता,
तो उस सबसे उसे मुक्त कर देता पुत्र,
इसीसे उसको 'पुत्र' नाम से पुकारा जाता ।

---

[89] वित्त अर्थात धन घटता-बढ़ता रहता है लेकिन पिण्ड (आत्मा) स्थिर है, जो धन का हेतु है और धन से घटता-बढ़ता है ।

[90] सम्प्रति-अर्थात सौंपना, पिता अपनी मृत्यु के उपरांत इन कर्मों को अपने पुत्र को सौंप कर जाता है ।

[91] अर्थात पिता के वाक्, मन और प्राण अपने पृथ्वी और अग्नि आदि आधिदैविक रूप से फूटे हुए घड़े के अन्तर्वर्ती दीपक के प्रकाश के समान सबमें व्याप्त हो जाते हैं ।

वह पिता अपने ऐसे पुत्र के द्वारा ही,
मरकर भी विद्यमान रहता इस लोक में,
हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमृत प्राण आविष्ट होते,
सम्प्रतिकर्म किया है, ऐसे उस पिता में ।

पृथ्वी और अग्नि से उसमें,
आवेश होता आधिदैविक वाक् का,
दैवी वाक् वही है जिससे पुरुष,
जो जो बोलता, वही वही हो जाता ।

द्युलोक और आदित्य से इसमें,
दैव मन का आवेश हो जाता,
दैव मन वही है जिससे यह,
आनन्दी होता, कभी शोक न करता ।

जल और चन्द्रमा से इसमें,
उस दैव प्राण का आवेश हो जाता,
जो संचार करते, या न करते भी,
भय या हिंसा को प्राप्त न होता ।

वह इस प्रकार से जाननेवाला,
समस्त भूतों का आत्मा हो जाता,
और जैसा यह हिरण्यगर्भ है,
वैसा ही वह जाननेवाला हो जाता ।

जैसे प्राणी इस देवता का पालन करते,
वैसे ही ऐसी उपासना करनेवाले का करते,
प्रजादि का शोक प्रजा के ही साथ रहता,
इसे पुण्य मिलता, देवता पापभागी न होते ।

अब विचार किया जाता है व्रत का,
प्रजापति ने कर्म (कर्मेन्द्रियों) को रचा,
पर प्रजापति द्वारा रची वे इन्द्रियाँ,
करने लग पड़ी आपस में स्पर्धा ।

वाक् ने व्रत लिया मैं बोलती ही रहूँगी,
मैं देखता ही रहूँगा व्रत लिया नेत्र ने,
श्रोत्र ने व्रत लिया मैं सुनता ही रहूँगा,
ऐसे ही व्रत लिया अन्य इन्द्रियों ने[92] ।

श्रम रूप ले मृत्यु ने पकड़ा उन्हें,
और वह मृत्यु उनमें व्याप्त हो गया,
उसके अवरोध करने से इन्द्रियों का,
श्रमित हो शिथिल होना तय हो गया ।

किन्तु जो यह मध्यम (मुख्य) प्राण है,
मृत्यु व्याप्त नहीं कर सका उसको,
इसलिए इस समय भी श्रमरहित होकर,
करता रहता प्राण अपने कार्य को ।

अपने से श्रेष्ठ जान अन्य इन्द्रियों ने,
उसे जानने का निश्चय किया मन में,
संचार करते हुए और न करते हुए भी,
न व्यथित होता, न क्षीणता आती इसमें ।

इस प्रकार विचार कर उन इन्द्रियों ने,
निश्चय किया कि प्राणरूप हो जाएँ वे,
सो प्राणरूप होकर सब इन्द्रियाँ,
'प्राण' नाम से ही पुकारे जाने लगी वे ।

---

[92] अर्थात कर्मानुसार सभी इन्द्रियों ने व्रत लिया कि वे अपने कार्यों में लगी रहेंगी और यह कि यदि मेरे समान कोई और भी अपने व्यापार से अलग न रहने में समर्थ हो तो अपना पराक्रम दिखलाए ।

इसी से जिस कुल में होता ऐसा ज्ञाता,
वह कुल उसी के नाम से जाना जाता,
और जो स्पर्धा करता ऐसे विद्वान से,
सूख जाता और सूखकर फिर मर जाता ।

यह जो ऊपर ऐसे कहा गया है,
शरीर सम्बन्धी यह अध्यात्मप्राणदर्शन,
अब देवताओं सम्बन्धी दर्शन कहा जाता,
जिसे कहा जाता है अधिदैवदर्शन ।

अग्नि ने व्रत लिया सदा जलता रहूँगा,
सूर्य ने तपने, चन्द्रमा ने प्रकाशित होने का,
इसी प्रकार अन्य देवताओं ने भी,
व्रत लिया यथादैवत अपने-अपने कार्य का ।

जैसे वागादि प्राणों में मुख्य प्राण है,
वही स्थान है देवताओं में वायुदेव का,
अन्य देवताओं सा अस्त न होता वायु,
इसलिए मुख्य प्राण[93] सा स्थान वायु का ।

इसी अर्थ का प्रकाशक यह मन्त्र है,
जो सम्बन्ध रखता वायु से और प्राण से,
जिस वायु में सूर्य उदय और अस्त होता,
निश्चय ही यह उदय, अस्त होता प्राण से ।

अधिदैवत सूर्य उदय होता वायु से,
और सांयकाल में यह अस्त होता वायु में,
ऐसे ही चक्षुरूप से उदय होता प्राण से,
और सुषुप्ति में यह अस्त होता प्राण में ।

उस धर्म को देवताओं ने किया धारण,
वागादि इन्द्रियों और अग्न्यादि देवताओं ने,
वही आज इस समय अनुवर्तित होता है,
इसी का अनुवर्तन होगा कल भविष्य में[94] ।

वागादि और अग्न्यादि इन्द्रियों का व्रत,
वह तो एक समय खण्डित हो जाता,
सोते समय वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्र,
इन सबका प्राण में लय हो जाता[95] ।

ऐसे ही जब अग्नि शान्त होने लगता,
वह वायु के अधीन हो शान्त होता,
ऐसे ही सूर्य और चन्द्रमा आदि का भी,
वायु में ही अस्त और उदय होना होता ।

वायु और प्राण का जो परिस्पन्दरूप धर्म है,
वही देवताओं द्वारा अनुवर्तन होनेवाला व्रत,
सो अन्यों को भी उचित एक व्रत का पालन,
प्राण और अपानरूपी व्यापार, वो एक व्रत ।

प्राणन, अपानन की निवृत्ति नहीं होती,
सो श्रमरूपी पापात्मा मृत्यु के डर से,
अन्य इन्द्रियों के व्यापार को छोड़कर,
बंधें इसी एक आचरण के पालन से ।

यदि कभी प्राणव्रत का आचरण करे,
तो उसे समाप्त करने की इच्छा रखे,
प्राण और देवताओं का पराभव होगा,
इस व्रत से बीच में ही हट जाने से ।

---

[93] मुख्य प्राण भी निरन्तर चलता रहता है, अन्य इन्द्रियों की तरह थकित नहीं होता ।

[94] अर्थात वागादि और अग्न्यादि ने उस समय जिन प्राणव्रत और वायुव्रत को धारण किया था उन्हीं को वे आज भी करते हैं, उसी का अनुवर्तन वे करते हैं व करते रहेंगे ।

[95] वाक्, चक्षु और श्रोत्र आदि ने व्रत लिया था कि वे बोलते, देखते और सुनते रहेंगे लेकिन सोते समय ये प्राण में लीन हो जाते हैं और इनका व्रत खण्डित हो जाता है ।

वागादि और अग्न्यादि मेरे ही स्वरूप हैं,
मैं प्राणरूप आत्मा परिस्पन्दन करनेवाला,
ऐसे इस व्रत को धारण करने से होती,
प्राणदेवता से सायुज्यता और सालोक्यता ।

षष्ठ ब्राह्मण

तीन का समुदाय-नाम, रूप और कर्म,
अनात्मा है यह त्रय, यह ब्रह्म नहीं,
हटा नहीं जिनका चित्त इन अनात्म से,
उनकी बुद्धि ब्रह्म में प्रवृत्त होती नहीं ।

वाक् ही सब नामों का उपादान कारण,
क्योंकि सारे नाम इसीसे होते उत्पन्न,
यह इनका साम, सब नामों में समान,
यह इनका ब्रह्म, सबको करता धारण ।

चक्षु ही सभी रूपों का उपादान कारण,
क्योंकि सारे रूप इसीसे होते उत्पन्न,
यह इनका साम, सब रूपों में समान,
यह इनका ब्रह्म, सबको करता धारण ।

ऐसे ही शरीर है सब कर्मों का कारण,
क्योंकि सारे कर्म इसीसे होते उत्पन्न,
यह इनका साम, सब कर्मों में समान,
यह इनका ब्रह्म, सबको करता धारण ।

वे ये उपर्युक्त नाम, रूप और कर्म,
तीनों परस्पर आश्रित हैं एक-दूसरे के,
एक-दूसरे की अभिव्यक्ति के कारण,
परस्पर लीन, मिले हुए एक-दूजे से ।

इस सारे व्याकृत, अव्याकृत जगत का,
नाम, रूप और कर्म ही है आधार,
ये नाम, रूप, कर्म जन्में आत्मा से,
यह आत्मा ही है इन सबका आधार ।

यह आत्मा आच्छादित है सत्य से,
यही अमृत है, अमृतस्वरूप ही हैं प्राण,
और नाम और रूप ही सत्य है,
अमृत और सत्य से ही आच्छन्न प्राण ।

द्वितीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

पूर्व में एक गार्ग्यगोत्रिय दृप्तबालाकि[96] ने,
काशिराज अजातशत्रु के पास जा कहा,
'मैं तुम्हारे प्रति ब्रह्म का निरूपण करूँ,'
सहस्त्र गौएँ देता मैं, काशिराज ने कहा ।

लोग 'जनक, जनक' ऐसा कह दौड़ते हैं,
अर्थात उन्हें बड़ा दानी, बड़ा श्रोता जानते,
सुलभ की ये बातें मुझे आपने ऐसा कह,
इसलिए देता हूँ मैं आपको सहस्त्र गौएँ ।

गार्ग्य ने कहा, यह जो आदित्य में पुरुष है,
जो चक्षु द्वारा हृदय में प्रविष्ट होता,
कर्ता और भोक्ता इस प्रकार स्थित है,
उसी को ब्रह्म समझ, मैं उपासना करता ।

इस प्रकार कहे जाने पर, अजातशत्रु ने,
ना, ना कहते, हाथ से मना करते कहा,
इस विज्ञेय ब्रह्म की चर्चा मत करो,
इसे मैं जानता, किसी और की हो चर्चा ।

समस्त भूतों का अतिक्रमण कर स्थित,
उनका मस्तक, दीप्तियुक्त होने से राजा,
जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है,
उस उपासक को ऐसा ही फल मिलता ।

गार्ग्य बोला, यह जो चन्द्रमा में पुरुष है,
इसकी ब्रह्म समझ मैं करता उपासना,
अजातशत्रु ने कहा, मैं जानता हूँ इसे,
यह महान शुक्लवस्त्रधारी[97] है सोम राजा ।

मैं इसकी ऐसे उपासना करता हूँ,
और जो इसकी उपासना करता ऐसे,
नित्यप्रति सोम सुत और प्रस्तुत[98] होता,
और अन्न की कमी नहीं होती उसे ।

गार्ग्य बोला, यह जो विद्युत में पुरुष है,
इसकी ब्रह्म समझ मैं करता उपासना,
अजातशत्रु ने कहा, मैं जानता हूँ इसे,
इसकी तेजस्वीरूप में मैं करता उपासना ।

---

[96] एक और अनेक ब्रह्म बस इतना ही है, इसके सिवा और कुछ नहीं है, वह प्रत्येक शरीरभेदों से परिच्छिन्न है, चेतनावान है तथा कर्ता और भोक्ता है-इस प्रकार अविद्या के विषय को ही आत्मस्वरूप से समझनेवाला गार्ग्य ब्राह्मण (जो गर्वीला होने से दृप्त और बलाका का पुत्र होने से बालाकि-दृप्तबालाकि) यहाँ वक्तारूप से उपस्थित किया जाता है; तथा इसके विपरीत जाननेवाला आत्मदर्शी अजातशत्रु श्रोता है ।

[97] चन्द्रमाभिमानी प्राण जलमय शरीरवाला है और जल का शुक्ल (श्वेत) वर्ण प्रसिद्द ही है ।

[98] अर्थात उसके लिए नित्यप्रति सुत होता है, यानी प्रकृतियज्ञ (वे यज्ञ जिनमें यज्ञ की सभी आवश्यक विशेषताओं का सम्पूर्ण रूप से वर्णन किया गया है अर्थात यज्ञ के सभी अंग) में सोमरस प्रस्तुत रहता है तथा प्रसुत होता है अर्थात विकृतियज्ञ (वे यज्ञ जिनमें विशेष अंग का उल्लेख किया जाता है, अन्य विवरणों को छोड़ दिया जाता है और वे विस्तारित अनुप्रयोग के सिद्धांत पर यज्ञ को पूरा करने के लिए अतिरिक्त विवरणों के लिए प्रकृति यज्ञों का संदर्भ देते हैं) में अधिकता से प्रस्तुत रहता है तथा प्रसुत होता है अर्थात विकृतियज्ञ में अधिकता से निरंतर सोमरस प्रस्तुत रहता है यानी उसे प्रकृति- विकृतिरूप दोनों प्रकार के यज्ञानुष्ठानों में सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है ।

जो कोई इसे तेजस्वी जान,
इस प्रकार उपासना करता इसकी,
वह स्वयं तो तेजस्वी होता ही है,
तेजस्विनी होती प्रजा भी उसकी ।

ऐसे ही गार्ग्य बोला मैं उपासना करता,
आकाश, वायु, अग्नि और जल की,
और अजातशत्रु भी नही, नही कहता,
कहता रहा मैं उपासना करता इनकी[99] ।

तब गार्ग्य बोला, यह जो दर्पण में पुरुष है,
इसकी ब्रह्म समझ मैं करता उपासना,
अजातशत्रु ने कहा, मैं जानता हूँ इसे,
इसकी देदीप्यमानरूप में मैं करता उपासना ।

मैं इसकी ऐसे उपासना करता हूँ,
और जो इसकी उपासना करता ऐसे,
वह और उसकी प्रजा देदीप्यमान होती,
लेकिन वह देदीप्यमान बढ़कर सबसे ।

जानेवाले के पीछे जो शब्द उदित होता,
गार्ग्य बोला, ब्रह्म समझ उसे उपासता,
अजातशत्रु ने कहा, मैं जानता हूँ इसे,
प्राणरूप से मैं इसकी उपासना करता।

जो कोई इसकी ऐसे उपासना करता,
इस लोक में पूर्ण आयु वो प्राप्त करता,
उस इस प्रकार उपासना करनेवाले को,
प्राण समय से पहले नहीं छोड़ता ।

गार्ग्य बोला, यह जो दिशाओं में पुरुष है,
इसीकी ब्रह्मरूप से मैं उपासना करता,
अजातशत्रु ने कहा मैं जानता हूँ इसे,
द्वितीय और अनपगरूप[100] से इसे उपासता ।

गार्ग्य बोला, यह जो छायामय पुरुष है,
इसकी ब्रह्म समझ मैं करता उपासना,
अजातशत्रु ने कहा, मैं जानता हूँ इसे,
इसकी मृत्युरूप से में करता उपासना ।

जो कोई इसकी ऐसे उपासना करता,
इस लोक में सारी आयु वो प्राप्त करता,
उस इस प्रकार उपासना करनेवाले को,
समय से पहले मृत्यु नहीं पकड़ता ।

गार्ग्य बोला, यह जो आत्मा में[101] पुरुष है,
इसकी ब्रह्म समझ मैं करता उपासना,
अजातशत्रु ने कहा, मैं जानता हूँ इसे,
इसकी आत्मवानरूप से करता उपासना ।

---

[99] इनकी उपासना का फल-आकाश की उपासना से वह प्रजा और पशुओं से पूर्ण होता है और इस लोक में उसकी प्रजासंतान का विच्छेद नहीं होता; वायु की उपासना से दूसरों से अविजित और शत्रुओं को परास्त करनेवाला; अग्नि की उपासना का फल दूसरों को सहन करनेवाला और जल की उपासना से उसे श्रुति और स्मृति के अनुरूप पदार्थ की ही प्राप्ति होती है विपरीत की नहीं और उसे वैसा ही पुत्र प्राप्त होता है ।

[100] दिशा, कर्ण और हृदय में एक ही देवता अश्विनीकुमार है जो कभी वियुक्त होनेवाले नहीं हैं । अत: उस देवता का गुण द्वितीयवत्त्व और अनपगत्व-अवियुक्तता है ।

[101] आत्मा में-अर्थात प्रजापति, बुद्धि और हृदय में भी एक ही देवता है ।

जो कोई इसकी ऐसे उपासना करता,
वह निश्चय ही आत्मवान होता,
और आत्मवान होती उसकी प्रजा भी,
यह सुन वो गार्ग्य चुप हो गया ।

तब अजातशत्रु ने कहा, 'क्या इतना ही है,'
अर्थात क्या इतना ही ब्रह्म विदित तुम्हें,
क्या इससे कुछ अधिक जानते हो तुम,
गार्ग्य ने कहा, इससे अधिक नहीं ज्ञात मुझे ।

इतने से तो ब्रह्म नहीं जाना जाता,
फिर क्यों तत्पर हुए उपदेश करने को,
यह सुन गार्ग्य ने कहा तुम्हारे प्रति,
शिष्यवत उपसन्न[102] होना चाहिए मुझको ।

ब्रह्म के उपदेश की आशा से,
यदि ब्राह्मण क्षत्रिय के पास जाता,
अजातशत्रु ने कहा यह विपरीत होगा,
पर मैं ज्ञान कराऊँगा तुम्हें उसका ।

तब हाथ पकड़ उठा ले गया अजातशत्रु,
एक सोये हुए पुरुष के पास उसे,
हे ब्रह्म[103] ! आदि कह पुकारा, न उठा,
तो हाथ से दबा-दबाकर उठाया उसे[104] ।

उपनिषद् में आत्मा का ज्ञान ही अभीष्ट,
उसमें उपाधियाँ आरोपित हैं अविद्या से,
अजातशत्रु बताना चाहता था गार्ग्य को,
विज्ञानमय ब्रह्म है भिन्न आदित्यादि से ।

इसलिए अजातशत्रु ने पूछा गार्ग्य से,
यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ से आया,
जब यह सोया था, तब वह कहाँ था,[105]
पर गार्ग्य इसका उत्तर दे नहीं पाया ।

जब यह सोया हुआ था, उस समय यह,
विज्ञान द्वारा प्राणों का विज्ञान ग्रहण कर,
यह जो हृदय के भीतर आकाश है,
अजातशत्रु बोला, उसमें रहता शयन कर ।

---

[102] उपसन्न-अर्थात जो शिष्य भाव से शरण आया हो ।

[103] हे ब्रह्म ! हे पाण्डरवास ! (पाण्डर अर्थात शुक्ल और वास अर्थात वस्त्र; पाण्डरवास अर्थात शुक्ल वस्त्रवाला) हे सोम राजन ! इन नामों से ।

[104] हाथ से दबा-दबाकर उठाया-इससे यह इंगित करने का प्रयास किया गया है कि यदि गार्ग्य के अभिमत प्राण, आदित्यादि विज्ञानमय ब्रह्म होते तो उनका नाम लेकर पुकारे जाने पर (उनका देवता होने से सर्वज्ञ होने से, और प्राण का पुरुष के सोते समय भी क्रियाशील रहने से) वह सोया हुआ पुरुष जाग उठता लेकिन उसे हाथ से दबा-दबाकर उठाया गया अर्थात इन अविज्ञानमय आदित्यादि ब्रह्मों से विज्ञानमय ब्रह्म भिन्न है, जिसने उसे चैतन्य किया ।

[105] तब यह आत्मा कहाँ था-यह प्रश्न आत्मा के स्वरूप का विशेष बोध कराने की इच्छा से है । जागने से पहले आत्मा क्रिया-कारक-फलरूपता से विपरीत स्वभाववाला है-यह उसके कार्याभाव (कार्य+अभाव) से दिखाना अभीष्ट है; क्योंकि जागने से पहले कर्मादि का कार्य सुख आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया जाता । अतः अकर्मप्रयुक्त होने के कारण आत्मा की अकर्म-स्वभावता ज्ञात होती है ।

जब यह विज्ञानों को ग्रहण कर लेता,
तब इसे स्वपिति[106] नाम से जाना जाता,
प्राण,[107] वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन को,
धारण किया हुआ और गृहीत[108] रहता ।

जब यह आत्मा स्वप्न देखता है,
उस समय वे कर्मफल[109] उदित होते इसके,
वहाँ भी ये महाराज या महाब्राह्मण होता,
या ऊँची-नीची गतियों[110] को रहता पाते ।

कोई महाराज अपने प्रजाजनों को लेकर,
अपने देश में इच्छानुसार विचरता जैसे,
उसी प्रकार यह प्राणों को ग्रहण कर,
अपने शरीर में रहता यथेच्छ विचरते[111] ।

इसके पश्चात जब वो सुषुप्त होता,
जब किसी के विषय में कुछ नहीं जानता,
तब नाड़ियों द्वारा[112] बुद्धि के साथ जाकर,
शरीर में व्याप्त होकर शयन करता ।

कोई बालक, महाराजा या महाब्राह्मण,
जैसे आनन्दमय होकर शयन करता,
वैसे ही दुःखनाशिनी अवस्था प्राप्त कर,
वो भी आनन्दमय हो शयन करता[113] ।

तन्तुओं पर चल जैसे मकड़ा ऊपर जाता,
अग्नि से अनेक क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती जैसे,
समस्त प्राण, लोक, देवगण और भूत,
विविधरूप से उत्पन्न होते वो आत्मा से[114] ।

अग्नि के विस्फुलिंगों सा यह सारा जगत,
आत्मा से अहिर्निश उत्पन्न होता रहता,
और जल में बुलबुले के समान,
उसी आत्मा में यह लीन होता रहता ।

स्थिति-काल में जिस स्वरूप से,
यह जगत विद्यमान रहता, है उपनिषत्,
प्राण सत्य और आत्मा उसका सत्य,
इसीलिए सत्य का सत्य, है उपनिषत् ।

---

[106] स्वपिति-अर्थात अपने स्वरूप को प्राप्त होता है अथवा सोता है ।

[107] यहाँ प्राण से तात्पर्य घ्राणेन्द्रिय है ।

[108] गृहीत-अर्थात पकड़े हुए । जिस समय यह सोया हुआ था, उस समय, अन्तःकरणरूप उपाधि के स्वभाव से जनित विज्ञान से, वागादि के विज्ञान को अर्थात अपने-अपने विषयों में उनके सामर्थ्य को ग्रहण कर, यह जो हृदय के मध्य में आकाश है (जिसे अपना परम आत्मा कहा गया है), उस स्वाभाविक असांसारिक स्वात्माकाश में शयन करता है । उस समय यह सत् को ही प्राप्त हो जाता है ।

[109] कर्मफल-अर्थात स्वप्न लोक के कर्मफल ।

[110] ऊँची-नीची गतियों-अर्थात देवत्व और तिर्यक्त्व आदि गति ।

[111] यथेच्छ विचरते-अर्थात काम और कर्मों से उद्भासित पूर्वानुभुत वस्तुओं के समान रूपवाली वासनाओं का अनुभव करता है ।

[112] हृदय से निकलकर शरीर में सब ओर जानेवाली बहत्तर हजार नाड़ियों द्वारा ।

[113] यह इस प्रश्न का उत्तर दिया गया कि जब वह सोया था तब वह कहाँ था ?

[114] मकड़ा अपने से ही तन्तुओं को उत्पन्न कर उन पर चढ़ता है और चिनगारियाँ भी आग से ही उत्पन्न होती हैं, उनसे भिन्न किसी अन्य साधन से नहीं, उत्पन्न होने से पहले उनका एकत्व था, इसी प्रकार इस आत्मा से अर्थात बोध होने से पूर्व इस विज्ञानमय आत्मा का जो स्वरूप है, उससे वागादि समस्त प्राण, लोक, भूत अर्थात ब्रह्मा से लेकर सभी प्राणी समुदाय विविधरूप से उत्पन्न होते हैं ।

द्वितीय ब्राह्मण

जिससे यह जगत उत्पन्न हुआ है,
और जो स्वरूप है इस जगत का,
जिसमें लीन हो जाता यह जगत,
यह सब स्वरूप है एक ही ब्रह्म का ।

यह जगत पञ्चभूतरूप से स्थित हुआ,
उसी रूप से उत्पन्न और लीन होता,
वे ये पञ्चभूत नाम-रूपात्मक हैं,
नाम-रूप सत्य और ब्रह्म सत्य उनका ।

मूर्त-अमूर्त भूतस्वरूप होने के कारण,
सत्य हैं देह-इन्द्रियरूप भूत और प्राण,
उन देहेन्द्रियस्वरूप भूतों की सत्यता,
निश्चय करने के लिए है यह आख्यान ।

आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और दाम,[115]
इनके सहित जो शिशु[116] को जानता,
वह अपने से द्वेष करनेवाले,
सात भ्रातृव्यों[117] का अवरोध करता ।

यह जो मध्यम प्राण है, वही शिशु है,
यह शरीर ही आधान है उसका,
सिर ही प्रत्याधान, प्राण स्थूणा है,
और जो अन्न है वो दाम उसका ।

प्रत्याधान में आरूढ़ शिशु के नेत्र में,
ये सात अक्षितियाँ[118] स्तवन करतीं,
इस शिशु की ऊपरी पलकें द्युलोक हैं,
और पृथ्वीलोक है इसकी पलकें निचली।

आँखों के लाल डोरे रूद्ररूपी अग्नितत्त्व,
और जलतत्त्व है गीलापन नेत्रों का,
सफेद भाग आकाश, काली पुतली पृथ्वीतत्त्व,
छिद्र वायुतत्त्व और सूर्य पुतली का तारा ।

हृदयरूपी आकाश या प्राणरूपी तट पर,
नेत्रादि-रूप में हैं सप्त-ऋषि[119] विद्यमान,
और इनके साथ संवाद करनेवाली,
जो वेद के द्वारा इनसे करती संवाद ।

---

[115] आधान-अधिष्ठान, जिसमें कुछ रखा जाए (घर); प्रत्याधान-मस्तक, शीर्ष (अर्थात पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-आँख, कान, नाक, जिह्वा और मन) ऐसी जगह जहाँ वस्तुएँ जमा की जाती हों, आगार; स्थूणा-अर्थात अन्नपानजनित शक्ति, खंभा, खूंटा; और दाम अर्थात रस्सी, वह नाल जिससे शिशु माता से जुड़ा रहता है ।

[116] शिशु-अर्थात मध्यम या मुख्य प्राण । अन्य इन्द्रियों की तरह विषयों में पटु न होने के कारण यह शिशु कहा गया है । यहाँ विराट ब्रह्माण्ड और मानव की समानता का बोध कराया गया है । जो कुछ भी इस स्थूल और सूक्ष्म शरीर में विद्यमान है वही इस विराट ब्रह्माण्ड में स्थित है । वास्तव में इस विशाल सृष्टि का अतिसूक्ष्म रूप परमात्मा ने इस मानव शरीर में स्थापित किया है और वह स्वयं भी इस शरीर में प्राणशक्ति के रूप में विराजमान है । प्राणतत्त्व का इस शरीर से गहरा सम्बन्ध है, जिसके बिना शरीर की क्रियाशीलता या गतिशीलता की कल्पना करना असम्भव है, अत: यह शरीर का आधार है ।

[117] भ्रातृव्य-अर्थात दो आँख, दो कान, दो नासिका और मुख । भ्रातृव्य दो प्रकार के होते हैं, द्वेष करनेवाले और द्वेष न करनेवाले । सिर में स्थित जो सात प्राण विषयों के उपलब्धी के द्वार हैं उनसे होनेवाले विषय सम्बन्धी राग साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले होने के कारण भ्रातृव्य हैं; क्योंकि वे ही उसकी आत्मस्थ दृष्टि को विषयोन्मुख करते हैं । अत: वे द्वेष करनेवाले कहे जाते हैं ।

[118] अक्षितियाँ-अर्थात नाश न होनेवाली शक्तियाँ ।

[119] सप्तऋषि-दो नेत्र, दो कान, दो नासिका और रसना ये सात ऋषि हैं ।

गौतम और भारद्वाज ऋषि हैं दोनों कान,
दोनों नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि,
दोनों नासिका छिद्र वसिष्ठ और कश्यप,
और यह वाक् ही है सातवें अत्रि ऋषि ।

जो साधक जानता इस रहस्य को,
अभावग्रस्त नहीं होता कभी जीवन में,
धन-धान्य से परिपूर्ण होता वो,
समस्त अन्न-भोग पाता जीवन में ।

तृतीय ब्राह्मण

भौतिक देह और इन्द्रियों से सम्बद्ध,
मूर्त[120] और अमूर्त दो रूप हैं ब्रह्म के,
मृत्य और अमृत, स्थित और चर,
सत् और त्यत्[121] भी हैं रूप ब्रह्म के ।

वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न जो है,
यह मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत्,[122]
और इन मूर्त आदि का रस जो तपता,
वह सविता है सत् का ही रस ।

यह भूतत्रय मूर्त होने से मर्त्य,
और मर्त्य होने से स्थित है ये,
स्थित होने से सत् यानी व्यक्त,
सभी प्रकार ब्रह्म का मूर्तरूप हैं ये ।

पृथ्वी आदि इस भूतत्रय का,
सारतम सविता है, ये इसी सारवाले,
इसी के द्वारा विभक्त किये हुए,
ये तीनों हैं विभिन्न रूपोंवाले ।

तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं,
ये अमृत हैं, ये चर हैं, ये ही असत्,
इस अमूर्त, अमृत, चर, असत् का सार,
सूर्यमण्डल में जो पुरुष[123] है स्थित ।

इस अधिदैवत दर्शन के पश्चात अब,
अध्यात्म मूर्तामूर्त का वर्णन किया जाता,
प्राण और शरीर के भीतर विद्यमान आकाश,
उससे भिन्न जो कुछ है वो रूप मूर्त का ।

पृथ्वी, जल और अग्नि का अंश,
विद्यमान है जो मानव शरीर में,
वह सब कुछ मूर्त और मरणधर्मा है,
और नेत्र इस सत के साररूप में ।

सत्य के ही विशेषरूप वासनाएँ हैं,
भिन्न-भिन्न रूप की होतीं हैं वासनाएँ,
हल्दी में रंगा, सफेद ऊनी वस्त्र सा,
और इन्द्रगोप[124] से रंग की ये वासनाएँ ।

---

[120] मूर्त-अर्थात मिले हुए अवयवोंवाला जो घनीभूत और संहत है ।

[121] सत् और त्यत्-सत् अर्थात दूसरों की अपेक्षा विशेषरूप से निरुपित किए जानेवाले असाधारण धर्मविशेषवाला और त्यत् अर्थात सत् से विपरीत स्वभाववाला अर्थात 'वह' इस प्रकार परोक्षरूप से कहे जाने योग्य ।

[122] मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत्-वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल और अग्नि) तीन भूत; मूर्त अर्थात मिले हुए अवयवोंवाला जो घनीभूत और संहत है; मर्त्य अर्थात मरणधर्मी, मरणधर्मी क्योंकि ये स्थित हैं; सत् अर्थात व्यक्त । ये मूर्त होने के कारण मर्त्य हैं, मर्त्य होने के कारण स्थित हैं और स्थित होने के कारण सत् (व्यक्त) हैं ।

[123] सूर्यमण्डल में पुरुष-अर्थात इन्द्रियात्मा हिरण्यगर्भ यानी प्राण ।

[124] इन्द्रगोप-वर्षा ऋतु में उत्पन्न होनेवाला एक लाल रंग का कीड़ा । ये हल्दी और लाल रंग आदि विषय-वासना को इंगित करते हैं ।

लोक में अग्नि की ज्वाला[125] की चमक सी,
और पुण्डरीक[126] सा भी रंग होता उनका,
बिजली चमक कर जैसे प्रकाश कर देती,
वैसे ही ज्ञानज्योति की वृद्धि की अपेक्षा ।

उस परब्रह्म के यथार्थ रूप को,
जान सका न कोई आज तक पूर्ण रूप से,
'नेति', 'नेति' उसके लिए सर्वोत्तम उपदेश,
'सत्य' नाम से जाना जाता है उसे ।

यह प्राण ही निश्चय रूप से सत्य है,
और वही है सूक्ष्म रूप ब्रह्म का,
इसी में समाया है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड,
इस प्रकार समुचित जानना प्राण का ।

चतुर्थ ब्राह्मण

'आत्मा' है, इस प्रकार ही करें उपासना,
यह आत्मा ही है परम लक्ष्य साधना का,
जिसने आत्मा को जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ,'
वह इस प्रकार जानकर सर्वरूप हो गया ।

समस्त साधनों से निरपेक्ष रहकर ही,
पुरुषार्थ का साधन होती है ब्रह्मविद्या,
सो त्यागरूप सन्यास का निरूपण करता,
यह संवाद याज्ञवल्क्य और मैत्रेयि का ।

सन्यास ग्रहण करने की इच्छा से,
पत्नी मैत्रेयि से ली अनुमति ऋषि[127] ने,
और कहा कि कात्यायनी[128] के साथ,
बँटवारा कर दूँ, तुम्हारा सभी चीजों में ।

मैत्रेयि ने कहा, यदि धन से सम्पन्न,
यह सारी पृथ्वी भी मुझे हो जाए प्राप्त,
तो क्या मैं उससे किसी प्रकार भी,
अमरता को कर सकती हूँ प्राप्त ?

ऋषि ने कहा, जैसा जीवन होता है,
भोग-सामग्रियों से सम्पन्न लोगों का,
वैसा ही तेरा भी जीवन हो जाएगा,
धन से अमृत्व नहीं पाया जा सकता ।

जिससे मैं अमर नहीं हो सकती,
क्या करूँगी मैं लेकर उस धन को,
मैत्रेयि ने कहा, मुझे वो साधन बतलाएँ,
जो अमृत्व का साधन ज्ञात आपको ।

ऋषि ने कहा, धन्य हो तुम मैत्रेयि,
प्रिय लगने वाली बात कही है तुमने,
मैं तेरे प्रति व्याख्या करूँगा उसकी,
तुम चिन्तन करना, जो कहूँगा मैं ।

वे बोले, पति के प्रयोजन के लिए नहीं,
अपने ही प्रयोजन से पति प्रिय होता,
ऐसे ही प्रिया, पुत्र, धन, लोक आदि भी,
अपने प्रयोजन के लिए ही प्रिय होता ।

---

[125] अग्नि की ज्वाला सी-लोक में जिस प्रकार अग्नि की ज्वाआ दीप्तिमती होती है वैसे ही कहीं-कहीं किसी की वासनाओं का रूप भी होता है । वासनाएँ अगणित हैं और उनके हेतु भी ।

[126] पुण्डरीक-श्वेत कमल ।

[127] ऋषि अर्थात ऋषि याज्ञवल्क्य ।

[128] कात्यायनी-ऋषि की दूसरी पत्नी ।

यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय,
और योग्य है किए जाने के ध्यान,
इसके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से,
हो जाता है इस सबका ज्ञान[129]।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, भूतगण आदि,
परास्त कर देते हैं उस व्यक्ति को,
जो उन्हें आत्मा से भिन्न जानता है,
क्योंकि वे भिन्न नहीं, आत्मा ही तो हैं वो ।

यह ऐसे है जैसे कि बजती हुई दुन्दुभि के,
ब्राह्य शब्द को कोई पकड़ नहीं सकता,
किन्तु उसके आघात को पकड़ लेने से,
दुन्दुभि का शब्द भी पकड़ लिया जाता ।

यह ऐसे है जैसे कि बजाए जाते शंख के,
ब्राह्य शब्द को कोई पकड़ नहीं सकता,
पर शंख या उसे बजाने को पकड़ लेने से,
शंख का शब्द भी पकड़ लिया जाता ।

यह ऐसे है जैसे कि बजती हुई वीणा के,
ब्राह्य शब्द को कोई पकड़ नहीं सकता,
पर वीणा या उसका स्वर पकड़ लेने से,
वीणा का शब्द भी पकड़ लिया जाता ।

गीले ईंधन से प्रदीप्त अग्नि से,
जिस प्रकार पृथक धुएँ का बादल निकलता,
वैसे ही ये वेद, पुराण, सूत्र, मन्त्रादि,
वह सब निश्वास है इस परमात्मा का ।

जैसे सभी जलों का समुद्र एक अयन[130] है,
ऐसे ही समस्त स्पर्शों का त्वचा एक अयन,
समस्त गन्धों का अयन दोनों नासिकाएँ,
ऐसे ही समस्त रसों का जिह्वा एक अयन ।

समस्त रूपों का चक्षु, शब्दों का श्रोत्र,
ऐसे ही समस्त संकल्पों का मन है अयन,
समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है,
ऐसे ही सभी कर्मों का हस्त है एक अयन ।

उपस्थ अयन है समस्त आनन्दों का,
और समस्त विसर्गों का पायु है एकायन,
ऐसे ही चरण अयन है समस्त मार्गों का,
और समस्त वेदों का वाक् है एकायन ।

ब्रह्मविद्याजनित बुद्धिपूर्वक प्रलय,
ब्रह्म को जाननेवालों का जो होता,
अविद्या के निरोध द्वारा होता यह,
उसी के लिए अब ऐसे कहा जाता ।

जल में डाला हुआ नमक का डला,
जैसे जल में ही लीन हो रहता,
निकाल नहीं सकता कोई उसे जल से,
और वो सारा जल नमकीन हो रहता ।

यह महद्भूत[131] अनन्त, अपार, आनन्दघन,
ऐसे ही भूतों संग प्रकटता, मिट जाता,
देहेन्द्रियभाव से मुक्त होने पर इसकी,
नहीं रहती किसी प्रकार की विशेष संज्ञा ।

---

[129] क्योंकि आत्मा को छोड़कर और कोई वस्तु नहीं है, इसलिए आत्मा के ज्ञान के द्वारा सम्यक ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

[130] अयन-अर्थात अभेद प्राप्ति का एक स्थान ।

[131] महद्भूत-अर्थात महान भूत; महत् भी और भूत भी; महान भूत होने से वह महद्भूत कहलाता है । आकाशादि का कारण होने से वह सबसे महान है । तीनों ही कालों में उसके स्वरूप का तिरोभाव नहीं होता, वह सर्वदा ज्यों-का-त्यों रहता है, इसलिए भूत है ।

'भूतों के साथ नाश को प्राप्त हो जाता,'
ऐसा कह मोह में डाल दिया आपने,
मैत्रेयि के ऐसा कहने पर वे ऋषि बोले,
परमात्मा का विज्ञान कराने को कहा मैंने ।

देहेन्द्रिय सम्बन्धी खिल्यभाव[132] जब,
अपने कारण द्वारा लीन कर लिया जाता,
अविद्याजनित भेदभाव नाश हो जाने से,
यह एक महद्भूत ही शेष रह जाता ।

जलादि आधार का नाश हो जाने पर जैसे,
चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब और प्रकाश न रहता,
पर नाश नहीं होता वास्तविक चन्द्रादि का,
ऐसे ही नाश नहीं होता कभी ब्रह्म का ।

जहाँ अविद्यावस्था में द्वैत सा होता है,
वहीं अन्य अन्य को सूँघता, देखता, सुनता,
अभिवादन करता है, मनन करता है,
और वहीं अन्य अन्य को जानता, समझता ।

किन्तु जहाँ इसे सब आत्मा ही हो गया,
वहाँ किसके द्वारा कौन सूँघे, देखे, सुने,
जिसके द्वारा सब जाना जाता, हे मैत्रेयि !
उस विज्ञाता को किसके द्वारा जाने ?

पञ्चम ब्राह्मण

यह पृथ्वी समस्त भूतों का मधु[133] है,
और समस्त भूत हैं मधु पृथ्वी के,
पार्थिव पुरुष और शारीर पुरुष[134] भी,
भूतों के मधु और भूत मधु हैं उनके ।

ऐसे ये चारों[135] समस्त भूतों के कार्य हैं,
और समस्त भूत कार्य हैं इन चारों के,
जिस एक कारण से जगत उत्पन्न हुआ,
वही एक तत्व परमार्थत: ब्रह्म कहते जिसे ।

पृथ्वी की तरह ही जल, अग्नि और वायु,
आदित्य, दिशाएँ, चन्द्रमा, विद्युत् हैं मधु,
मेघ, आकाश, धर्म, सत्य और मनुष्य,
ये भी भूतों के मधु, सब भूत इनके मधु ।

ऐसे ही आत्मा (देह) और समस्त भूत हैं,
और इसमें है जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष,
और जो यह आत्मा तेजो-अमृतमय पुरुष है,
यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सर्वरूप ।

जो पहले भी ब्रह्म और सर्व होते हुए ही,
अविद्यावश अब्रह्म, असर्व बना हुआ था,
इस ज्ञान द्वारा उस अविद्या को नष्ट कर,
ब्रह्म व सर्व होते, ब्रह्म और सर्व हो गया ।

---

[132] खिल्यभाव-अर्थात नमक का डला (खिल्य) होने जैसा भाव । नमक का डला जल से ही (तेज के कारण सूखकर) उत्पन्न होता है और उसी में लीन होकर ढूँढने पर भी नहीं मिलता केवल जल ही रह जाता है ।

[133] मधु-अर्थात कार्य; जिस प्रकार अनेक मधुकरों द्वारा एक मधु का छत्ता तैयार किया हुआ होता है ।

[134] पार्थिव पुरुष और शारीर पुरुष-पार्थिव पुरुष अर्थात यह जो पृथ्वी में तेजोमय (चिन्मात्रप्रकाशमय) और अमृतमय (अमरणधर्मा) पुरुष है और शारीर पुरुष अर्थात अध्यात्म शारीर-शरीर में रहनेवाला पहले ही की तरह तेजोमय और अमृतमय पुरुष तथा लिंग देह का अभिमानी ।

[135] ये चारों-अर्थात पृथ्वी, समस्त भूत, पार्थिव पुरुष और शारीर पुरुष ।

सबका अधिपति और राजा 'यह आत्मा,'[136]
सारे जीव, देव, ये आत्मादि समर्पित इसमें,
वैसे ही जैसे सारे अरे समर्पित रहते हैं,
रथ की नाभि और रथ की नेमि में ।

उस इस आत्मभूत सर्वात्म ब्रह्मवेत्ता में,
सारा जगत समर्पित है, रथ के अरे सा,
जल में चन्द्रमा से, शरीर में प्रविष्ट,
अविद्या-कल्पित ये समस्त आत्मा ।

अश्विनीकुमारों की स्तुति के लिए,
यह आख्यायिका प्रस्तुत की जाती,
उदितमान सूर्य जो अँधेरा दूर कर देता,
वैसे ही विद्या से अविद्या मिट जाती ।

इन्द्र से सुरक्षिता, यह दुष्प्राप्य ब्रह्मविद्या,
अश्विनीकुमारों को मिली बड़ी कठिनता से,
ब्राह्मण का सिर काट, घोड़े का सिर लगा,
यह ब्रह्मविद्या सुनी घोड़े के मुख से ।

इस मधु का पहले उपदेश किया था,
अश्विनीकुमारों को दध्यअथर्वण ऋषि ने,
यदि तुम इसे किसी अन्य के प्रति कहोगे,
तुम्हारा सिर काट दूँगा, कहा था इन्द्र ने ।

ऋषि ने कहा, मस्तक कटने से डरता,
सो यदि इन्द्र मेरा मस्तक न काटे,
तो मैं तुम्हारा उपनयन[137] करूँगा,
और वह गुप्त मधु कहूँगा तुमसे ।

अश्विनीकुमारों बोले, रक्षा करेंगे आपकी,
सो जिस समय आप हमारा उपनयन करेंगे,
उस समय हम आपका यह सिर काटकर,
उसकी जगह घोड़े का सिर लगा देंगे ।

घोड़े के सिर से आप हमें उपदेश करेंगे,
उस सिर को जब इन्द्र काट देगा,
हम आपका अपना सिर वापस जोड़ देंगे,
इस प्रकार यह कार्य सफल हो रहेगा ।

घोड़े के सिर से उपदेश किया ऋषि ने,
इन्द्र ने आ उनका वह सिर काट दिया,
और अश्विनीकुमारों ने ऋषि का सिर,
फिर से ऋषि के शरीर से जोड़ दिया ।

इस मधु की महत्ता को देखते हुए,
इस प्रकार कहा था मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ने,
हे अश्विनीकुमारों ! वह उग्र दंस कर्म,[138]
लाभ के लिए ही किया है तुमने ।

---

[136] 'यह आत्मा'-जिसका पहले के पर्यायों में उपदेश नहीं हुआ, उस अवशिष्ट विज्ञानमय का इस अंतिम पर्याय में जिस आत्मा में प्रवेश कराया गया है, वह यहाँ 'यह आत्मा' इस प्रकार कहा गया है । अविद्याकृत देहेन्द्रियसंघातरूप (देह और इन्द्रियों के समूहरूप) उपाधि से युक्त जीव का ब्रह्मविद्या के द्वारा उस परमार्थ आत्मा में प्रवेश कराए जाने पर वह इस प्रकार कहा हुआ आत्मा अर्थात आत्मभाव को प्राप्त हुआ विद्वान अन्तर-ब्राह्यशून्य, पूर्ण और प्रग्यानघनभूत है ।

[137] उपनयन-अर्थात तुम्हें यह विद्या प्रदान करूँगा ।

[138] उग्र दंस कर्म-उग्र अर्थात क्रूर, और दंस उस कर्म का नाम है । लाभ के लिए-क्योंकि लाभ का लोभी पुरुष लोक में भी क्रूर कर्म कर बैठता है । जिस प्रकार लोक में होते हैं, वैसे ही ये दोनों भी देखे जाते हैं ।

तुमने जो यह एकान्त में किया है,
उसको मैं सबके सामने प्रकट करता,
जिस प्रकार गर्जना आदि के सहित,
मेघ बरसकर वृष्टि को प्रकट करता ।

इस मधु का ऋषि ने उन्हें उपदेश किया,
इसे देखते हुए मन्त्रद्दष्टा ने कहा,
सूर्य सम्बन्धी और आत्मज्ञान सम्बन्धी,
यह गुप्त मधु ऋषि ने तुमसे कहा ।

फिर कहा, परमात्मा ने सबसे पहले,
दो और चार पैरोंवालों का निर्माण किया,
फिर वह पुरुष उन समस्त शरीरों में,
स्वयं पक्षी होकर प्रविष्ट हो गया ।

समस्त शरीरों में विद्यमान वह पुरुष,
ऐसा कुछ नहीं जो उससे ढका न हो,
और ऐसा भी कुछ नहीं है जिसमें,
उसका प्रवेश न हो, वो व्याप्त न हो ।

रूप-रूप के प्रतिरूप हो गया वो,[139]
उन्हीं के समान हो गया वो रूपवाला,
उसका वह रूप प्रकट करने के लिए है,[140]
माया से प्रतीत होता वो अनेक रूपवाला ।

शरीररूप रथ में जोड़े हुए इसके,
इन्द्रियरुप घोड़े हैं शत और दश,
यह परमेश्वर ही इन्द्रियरुप अश्व है,
यही दश, सहस्त्र, अनेक, अनगिनत ।

कारणविहीन, कार्यविहीन है वह ब्रह्म,
अमूर्त और विहीन अन्तर और बाहर से,
इसी ब्रह्मस्वरूप 'आत्मा' को जनाते वेदान्त,
परमात्मा तक पहुँचना चाहिए इसीसे ।

षष्ठ ब्राह्मण

मधुकाण्ड की गुरु-शिष्य परम्परा का,
वर्णन किया गया है इस ब्राह्मण में,
ज्ञान के लिए उल्लेख इस परम्परा का,
स्वयंभू ब्रह्मा से इसे पाया ऋषियों ने ।

गुरु-शिष्य परम्परा से चलकर पहुँचा,
इसमें उल्लेखित ऋषियों में यह ज्ञान,
स्वाअनुभूत ज्ञान दिया शिष्य को गुरु ने,
उन सभी ऋषियों और ब्रह्मा को प्रणाम ।

---

[139] अर्थात दो पैरवाले से दो पैरवाला और चार पैरवाले से चार पैरवाला ।

[140] क्योंकि यदि नाम-रूपों की अभिव्यक्ति न होती तो आत्मा का प्रज्ञानघनसंज्ञक निरुपाधिक रूप प्रकट नहीं हो सकता था ।

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

विदेह देश में रहनेवाले राजा जनक ने,
यजन किया एक बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ का,
कुरु और पान्चाल के ब्राह्मण एकत्र हुए,
जनक को तब यह जानने की हुई इच्छा ।

इन ब्राह्मणों में से कौन है वो,
प्रवचन करने में जो सबसे बढ़कर,
एक सहस्त्र गौएँ गौशाला में रखीं,
सींगों में उनके सुवर्ण पाद बाँधकर ।

उन ब्राह्मणों से राजा जनक ने कहा,
आप पूजनीयों में जो ब्रह्मिष्ठ हो,
वह इन गौओं को अपने साथ ले जाए,
मेरी गौशाला में एक सहस्त्र खड़ी हैं जो ।

उन ब्राह्मणों का साहस न हुआ,
तो याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा,
हे सोमश्रवा ! तू इन गौओं को ले जा,
तो गुरु आज्ञा मान वो गौएँ ले चला ।

हम सब में से यह अपने को कैसे,
ब्रह्मिष्ठ कहता, ब्राह्मण क्रुद्ध हो गए,
तब अश्वल जो जनक का 'होता' था,
क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो, पूछा उनसे ?

तब उस याज्ञवल्क्य ने कहा उससे,
ब्रह्मिष्ठ को हम करते हैं नमस्कार,
इस समय तो हम गौओं की इच्छावाले हैं,
तो अश्वल ने पूछने का किया विचार ।

यह सब जो मृत्यु से व्याप्त है,
और वश में किया हुआ है मृत्यु द्वारा,
तो किस साधन से, अश्वल ने पूछा,
यजमान पूर्णत: उससे मुक्त हो सकता ?

'होता' ऋत्विकरूप अग्नि से और वाक् से,
उसका अतिक्रमण किया जा सकता,
यही वाणी है प्रसिद्द अधिदैव अग्नि,
सो यह 'वाक्' ही है यजमान का 'होता' ।

इस प्रकार यज्ञ के जो ये दो साधन,
अधियज्ञ होता-ऋत्विक और अध्यात्म वाक्,
ये दोनों परिच्छिन्न, व्याप्त मृत्यु से,
अज्ञान से हो रहे अन्यथात्व को प्राप्त ।

वे इस अग्नि[141] द्वारा देखे जाने पर,
यजमान के मृत्यु के अतिक्रमण का साधन,
इसीसे वह होतारूप अग्नि मुक्ति है,
होता को अग्निरूप देखना यह साधन ।

इन दोनों साधनों को अग्निरूप से,
जिस समय भी यजमान देखता,
स्वाभाविक आसक्तिरूप मृत्यु से,
उसी समय वो मुक्त हो जाता ।

[141] इस अग्नि-अर्थात इस अधिदैवतरुप अग्नि द्वारा ।

वाणी और अग्नि के द्वारा 'होता',
ऐसे कर सकता है मृत्यु को पार,[142]
वही मुक्ति और अतिमुक्ति[143] है,
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया इस प्रकार ।

तब अश्वल ने कहा, यह जो कुछ है,
सब दिन और रात्रि से है व्याप्त,
तब किस साधन के द्वारा यजमान,
इन पर अतिक्रमण कर सकता प्राप्त ?

याज्ञवल्क्य बोला, अध्वर्यु[144] यज्ञ का चक्षु है,
और यह जो चक्षु है, वह है यही आदित्य,
सो मुक्ति और अतिमुक्ति दोनों हैं,
अध्वर्यु ऋत्विक[145] और चक्षुरूप आदित्य ।

तब अश्वल ने कहा, यह जो कुछ है,
सब शुक्ल और कृष्ण पक्ष से है व्याप्त,
तब किस साधन के द्वारा यजमान,
इन पर अतिक्रमण कर सकता प्राप्त ?

याज्ञवल्क्य बोला, उद्गाता यज्ञ का प्राण है,
और जो प्राण है, वही वायुरूप विद्यमान,
सो मुक्ति और अतिमुक्ति दोनों हैं,
उद्गाता ऋत्विक और वायुरूप प्राण ।

तब अश्वल बोला, यह जो कुछ है,
यह अन्तरिक्ष है निरालम्ब सा,
तब किस आलम्बन के द्वारा,
यजमान स्वर्गलोक में चढ़ता ?

याज्ञवल्क्य बोला, ब्रह्मा[146] यज्ञ का मन है,
और यह जो मन है, वही है चन्द्रमा,
सो मुक्ति और अतिमुक्ति दोनों हैं,
ब्रह्मा ऋत्विक और मनरूप चन्द्रमा ।

अतिमोक्षों का वर्णन हुआ इस प्रकार,
अब सम्पदों का निरूपण किया जाता,
भावना द्वारा किसी अन्य वस्तु का,[147]
अन्य में आरोप करना 'सम्पद' कहलाता ।

---

[142] जो होता (आहुति देनेवाला) वाणी द्वारा उद्भूत मन्त्रों का और यज्ञाग्नि द्वारा ब्रह्म का ध्यान करते, नाद ध्वनि को उत्पन्न करता है वह उस नाद-ब्रह्म द्वारा मृत्यु को भी जीत लेता है ।

[143] मुक्ति और अतिमुक्ति-मुक्ति अर्थात कालरूप और कर्मरूप मृत्यु से मुक्ति; अतिमुक्ति अर्थात विशेष रूप से मुक्त; जिसकी मुक्ति हो गई हो; जीवनमुक्त ।

[144] अध्वर्यु-यज्ञ करानेवाले चार ऋत्विक में से एक होता है जो यज्ञ के भौतिक पहलुओं (भूमि, वेदी आदि का नाप-जोख, समिधा लाना आदि) का प्रभारी होता है ।

[145] अर्थात आदित्य भाव से देखा गया अध्वर्यु ऋत्विक । आदित्य भाव को प्राप्त हुए व्यक्ति के लिए दिन और रात होने सम्भव नहीं ।

[146] ब्रह्मा-अर्थात ब्रह्मा-ऋत्विक ।

[147] साधन के अभाव में बहुत से यज्ञ लोगों द्वारा करना सम्भव नहीं हो सकता, अत: सम्पद (भावना द्वारा किसी अन्य वस्तु का अन्य में आरोप करना) द्वारा उन यज्ञादि को सम्पन्न कराया जाता है ।

तब अश्वल ने पूछा, आज यज्ञ में होता,
कितनी ऋचाओं का उपयोग करेगा,
पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या,[148] तीन का,
याज्ञवल्क्य ने कहा, वो उपयोग करेगा ।

इनसे कौन जीता जाता यह पूछने पर,
समस्त प्राणी समुदाय, याज्ञवल्क्य ने कहा,
कितनी आहुतियाँ अध्वर्यु डालेगा, पूछने पर,
तीन आहुतियाँ डाली जायेंगी, उसने कहा ।

पहली जो होम करने पर प्रज्वलित होती,
दूसरी वो जो होम करने पर शब्द करती,
तीसरी जो समा जाती पृथ्वी में[149] जिससे,
देव, पितृ और मृत्युलोक पर जीत मिलती ।

तब अश्वल ने पूछा, दक्षिण में बैठ ब्रह्मा,
कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता,
याज्ञवल्क्य ने कहा, एक मन के ही द्वारा,
जो अनन्त, जिससे अनन्तलोक जीतता[150] ।

फिर अश्वल ने पूछा कि आज उद्गाता,
कितने स्तोत्रिया ऋचाओं का गायन करेगा,
पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या, इन का,
याज्ञवल्क्य ने कहा, उद्गाता गान करेगा ।

इनमें से कौन शरीरान्तर्वती हैं, पूछने पर,
याज्ञवल्क्य बोला, प्राण ही है पुरोनुवाक्या,
देव जिससे हवि पाते वो अपान याज्या है,
और प्राण-अपान मध्यस्थित व्यान शस्या ।

पुरोनुवाक्या से विजित होता पृथ्वीलोक,
याज्या से अन्तरिक्ष, द्युलोक शस्या से,
अश्वल चुप हो गये, ब्रह्मऋषि को सुन,
और अन्य ब्राह्मणों की ओर लगे देखने ।

---

[148] पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या-पुरोनुवाक्या अर्थात यज्ञ से पहले, याज्या अर्थात यज्ञ के समय और शस्या अर्थात यज्ञ के बाद की स्तुतियाँ । जितनी भी ऋचाएँ हैं-वे स्तोत्रिया हों या अन्य, इन तीन ऋग्जातियों के अन्तर्गत ही हैं । तीन ऋग्जाति और तीन लोकों की संख्या में समानता होने के कारण इनके द्वारा समस्त प्राणी समुदाय पर विजय प्राप्त कर ली जाती है ।

[149] पहली जो हवन की जाने पर प्रज्वलित होती हैं, वे समिध् और घृत की आहुतियाँ; दूसरी जो होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं, वे मांसादि आहुतियाँ और तीसरी जो होम की जाने पर अधिशयन करती हैं अर्थात नीचे पृथ्वी पर जाकर लीन हो जाती हैं, वे दुग्ध और सोम की आहुतियाँ । उज्ज्वलनयुक्त आहुतियों का फल भी उज्ज्वल देवलोक होता है; इन दोनों में समानता होने के कारण यजमान यह सम्पादन (भावना) करता है की मेरे द्वारा यह जो उज्जवलित आहुतियाँ दी जा रही हैं, वे साक्षात् इस कर्म के फलस्वरूप देवलोक का रूप है, अर्थात इनके द्वारा मैं देवलोकरूप फल को निष्पन्न कर रहा हूँ । ऐसे ही कुत्सित शब्द करनेवाले होने से पितृलोक की दूसरी आहुति से और पृथ्वी के उपरी भाग से सम्बन्धित होने से तीसरी आहुति द्वारा मनुष्यलोक को जीतना कहा गया ।

[150] ब्रह्मा अपना कार्य मन के द्वारा ध्यान करके ही करता है । उस यज्ञ के मन और वाक् ये दो मार्ग हैं । उनमें से एक (वाक्) का संस्कार ब्रह्मा मन यानी मौन से करता है । मन अनन्त है और उसके अभिमानी अनन्त देव भी अनन्त हैं और इस समानता से वह अन्नतलोक जीत लेता है ।

द्वितीय ब्राह्मण

तब जारत्कारव आर्तभाग[151] ने उनसे पूछा,
कितने ग्रह हैं और अतिग्रह[152] हैं कितने,
और उनका नाम पूछने पर, याज्ञवल्क्य बोले,
आठ ग्रह हैं और अतिग्रह भी हैं उतने ।

प्राण[153] ग्रह है और अपान अतिग्रह है,
क्योंकि अपान से वो गन्धों को सूँघता,
वाक्शक्ति ग्रह है, नाम अतिग्रह[154] है,
क्योंकि वाणी से नाम उच्चारण करता ।

रसना ग्रह है और रस अतिग्रह है,
क्योंकि जिह्वा से वो रसों को जानता,
चक्षु ग्रह है और रूप अतिग्रह है,
क्योकि प्राणी चक्षु से ही रूपों को देखता ।

श्रोत्र ग्रह है और शब्द अतिग्रह है,
क्योंकि श्रोत्र से वो शब्दों को सुनता,
मन ही ग्रह है और काम अतिग्रह है,
क्योंकि मन से प्राणी कामना करता ।

हस्त ही ग्रह है और कर्म अतिग्रह है,
क्योंकि प्राणी हाथों से कर्म करता,
त्वचा ग्रह है और स्पर्श अतिग्रह है,
क्योंकि त्वचा से वो स्पर्श ग्रहण करता ।

तब आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा,
यह जो कुछ है, सब खाद्य मृत्यु का,
सो वह ऐसा कौन देवता है,
मृत्यु स्वयं खाद्य है जिसका ?

याज्ञवल्क्य ने इसके उत्तर में कहा,
अग्नि ही मृत्यु है, वह खाद्य जल का,
जो मनुष्य जानता इस प्रकार से,[155]
पुनर्मृत्यु को वो पराजित कर देता ।

फिर पूछा, जब यह मनुष्य मरता,
तब प्राणों का उत्क्रमण होता या नहीं,
याज्ञवल्क्य बोले, वे यहीं लीन हो जाते,[156]
वो वायु खींच, फूला पड़ा रहता यहीं ।

---

[151] जारत्कारव आर्तभाग- जरत्कारुगोत्रवाला ऋतभाग का पुत्र आर्तभाग ।

[152] ग्रह और अतिग्रह-कालरूप और कर्मरूप से जो मृत्यु है, वह स्वभाविक अज्ञानजनित आसक्ति का स्थान, अध्यात्म (शरीर सम्बन्धी) और अधिभूत (जड़ जगत सम्बन्धी) विषय से परिच्छिन्न (विभाजित, घिरा हुआ, मर्यादित, सीमित) ग्रह-अतिग्रहरूप है । इस साध्य-साधनरूप संसार से मोक्ष करना है, इसलिए यहाँ से बन्धनरूप मृत्यु का स्वरूप बतलाया जाता है; क्योंकि बद्ध को ही मुक्त करना होता है । तथा जो अतिमुक्त का स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ भी वह मृत्युरूप ग्रह और अतिग्रह से अतिमुक्त नहीं है । इस विषय में कहा भी है-"भूख ही मृत्यु है," "यही मृत्यु है ।"

[153] प्राण-यहाँ प्राण से तात्पर्य है घ्राणेन्द्रिय ।

[154] नाम अतिग्रह-वाक् ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है; वह वाक्संज्ञक ग्रह नाम अर्थात वक्तव्य विषयरूप अतिग्रह से गृहीत (यानी ग्रहण किया हुआ, घेरा हुआ, पकड़ा, या स्वीकृत) है ।

[155] अग्नि सबका नाश कर देता है, अर्थात मृत्युरूप देखा जाता है, और जल उसका भक्षण कर लेता है, ऐसे अग्नि जल का खाद्य है अर्थात मृत्यु का मृत्यु है ।

[156] अर्थात मुक्त हुए विद्वान के प्राण-वागादि ग्रह और नामादि अतिग्रह, अपने मूलभूत परमसत्ता में लीन हो जाते हैं ।

'क्या नहीं छोड़ता इसे,' पूछने पर,
याज्ञवल्क्य ने कहा, 'नाम नहीं छोड़ता,'
नाम और विश्वदेव के आनन्त्यदर्शन[157] से,
वह अनन्तलोक को ही जीत लेता ।

आर्तभाग बोला जब इस मृतक की,
वाणी लीन हो जाती है अग्नि में,
प्राण वायु में लीन हो जाते,
और चक्षु लीन हो जाते सूर्य में ।

मन चन्द्रमा में लीन हो जाता है,
श्रोत्र लीन हो जाते हैं दिशा में,
शरीर पृथ्वी में लीन हो जाता है,
हृदयाकाश लीन हो जाता भूताकाश में ।

रोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में,
रक्त और वीर्य स्थापित हो जाते जल में,
कहाँ रहता उस समय यह पुरुष,
हे याज्ञवल्क्य ! उसका आश्रय बतलाएँ ।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह प्रश्न,
जन समुदाय में होने योग्य नहीं,
तू मुझे अपना हाथ पकड़ा, हम दोनों,
इसका उत्तर जानेंगे आपस में ही ।

एकान्त में चिन्तन करने के बाद वे दोनों,
लौटकर कर्म के विषय में प्रशंसा करने लगे,
कर्मों के अनुसार पाप-पुण्य कमाया जाता,
और वो मृतक रहता अपने इन्हीं कर्मों में ।

तृतीय ब्राह्मण

यह आख्यान लाह्यायनि भुज्यु से सम्बद्ध,
जब वह भुज्यु मद्रदेश में घूम रहा था,
कपिगोत्र में उत्पन्न पतन्चल के घर में,
उसकी पुत्री को गन्धर्व से आवेशित देखा ।

यह पूछने पर कि वह कौन है,
तो उसने बताया, आंगिरस सुधन्वा,
भुवनकोष का परिमाण जानने को प्रवृत्त,
उससे पारिक्षित[158] कहाँ रहे,[159] पूछा ?

सो अब हम तुमसे पूछते हैं कि,
बताओ हमें वो पारिक्षित कहाँ रहे,
याज्ञवल्क्य बोले, उस गन्धर्व ने बताया,
अश्वमेघ यज्ञ करनेवाले जहाँ जाते ।

अश्वमेघयाजी कहाँ जाते हैं, पूछने पर,
याज्ञवल्क्य ने बताया उसके विषय में,
वह लोक बत्तीस देवरथहन्य[160] है जिसे,
चारों ओर से घेरा हुआ दोगुनी पृथ्वी ने ।

---

[157] आनन्त्यदर्शन-अर्थात नाम अनन्त ही है और विश्वदेव भी अनन्त ही है । नित्य होना ही नाम का अनन्तत्व है । नाम के अनन्तत्व के अधिकारी विश्वदेवों को आत्मभाव से प्राप्त होकर इस आनन्त्यदर्शन द्वारा वह अनन्त लोक को ही जीत लेता है ।

[158] पारिक्षित-अर्थात अश्वमेघयाजी ।

[159] लाह्यायनि भुज्यु आदि चरक अध्ययन के लिए मद्र देश में घूम रहे थे, वहाँ उन्होंने आंगिरस सुधन्वा नामक गन्धर्व से अपनी प्रशंसा करते भुवनकोष का परिमाण जानने को प्रवृत्त पूछा कि पारिक्षित कहाँ रहे ? उस गन्धर्व ने हमें सब बता दिया । अर्थात मैंने (लाह्यायनि भुज्यु ने) दिव्य जीवों से ज्ञान प्राप्त किया है, जो तुमने (याज्ञवल्क्य ने) नहीं किया ।

[160] देवराथहन्य-आदित्य देव है, अत: उसका रथ-देवरथ एक दिन में संसार के जितने भाग को माप लेता है, वह देवराथहन्य कहा जाता है ।

उस पृथ्वी को सब ओर से घेरे,
समुद्र है जो परिमाण में उससे दूना,
ब्रह्माण्ड के दोनों कपोलों के मध्य,
एक आकाशछिद्र है अति सूक्ष्म[161] सा ।

इन्द्र (चित्य अग्नि[162]) ने पक्षी बनकर,
उन पारिक्षितों को वायु को दिया,
अपने स्वरूप में स्थापित कर वायु उन्हें,
अश्वमेघयाजी जहाँ रहते वहाँ ले गया ।

वायु की ही प्रशंसा की ऐसे उस गन्धर्व ने,
अत: वायु ही व्यष्टि है और समष्टि भी,
पुनर्मृत्यु को जीत लेता ऐसे जाननेवाला,
यह सुन उस भुज्यु ने चुप्पी साध ली ।

चतुर्थ ब्राह्मण

तब चाक्रायण उपस्त ने याज्ञवल्क्य से पूछा,
क्या है अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा,
उसको उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा,
हे उपस्त ! सर्वान्तर है, यह तेरा ही आत्मा ।

उसने पूछा, वह सर्वान्तर कौन सा है,
तो याज्ञवल्क्य ने उसे उत्तर में कहा,
यह जो प्राण से प्राणक्रिया[163] करता है,
वही है तेरा यह सर्वान्तर आत्मा ।

जो अपान से अपानक्रिया करता है,
वह तेरा आत्मा है सर्वान्तर,
जो व्यान से व्यानक्रिया करता है,
वह तेरा आत्मा है सर्वान्तर ।

जो उदान से उदानक्रिया करता है,
वह तेरा आत्मा है सर्वान्तर,
जिस आत्मा द्वारा तू आत्मवान है,
वही यह तेरा आत्मा है सर्वान्तर ।

तब उस चाक्रायण उपस्त ने कहा,
कोई चलकर या दौड़कर कहे जैसे,
यह चलनेवाला बैल, दौडनेवाला घोड़ा है,
यह तुम्हारा कथन भी है बस वैसे ।

जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म,
और सर्वान्तर है कहो स्पष्ट उसे,
'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है',
याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया उसे ।

कहा, देख नहीं सकते तुम दृष्टा को,[164]
न ही श्रुति के श्रोता को सुन सकते,
मनन नहीं कर सकते मति के मन्ता का,
विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते ।

---

[161] अति सूक्ष्म-छुरे की धार सा या मक्खी के पंख सा सूक्ष्म ।

[162] चित्य अग्नि-अर्थात अश्वमेघ यज्ञ में चयन किया हुआ अग्नि ।

[163] अर्थात जिसके द्वारा प्राण चेष्टायुक्त होता है, वह विज्ञानमय कार्यकरणसंघातरूप (देह-इन्द्रिय संघात) तेरा आत्मा (जीवात्मा) है ।

[164] आत्मा ही दृष्टि का दृष्टा है; दृष्टि दो प्रकार की होती है-लौकिकी और पारमार्थिकी । उनमें चक्षु से संयुक्त जो अन्त:करण की वृत्ति है, वह लौकिकी दृष्टि है, वह की जाती है, इसलिए उत्पन्न भी होती है और नष्ट भी, किन्तु जो अग्नि के उष्णत्व और प्रकाशादि के समान आत्मा की दृष्टि है, वह दृष्टा का स्वरूप होने से न उत्पन्न होती है, न नष्ट होती है ।

तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है,
शेष सब नाशवान है, जो भिन्न है इससे,
तब वह चाक्रायण उपस्त चुप हो गया,
कुछ कह न सका वो याज्ञवल्क्य से ।

पञ्चम ब्राह्मण

तब कौषीतकेय कहोल ने उससे कहा,
फिर से सर्वान्तर की व्याख्या करने को,
क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, ज़रा, मृत्यु से,
जो परे, कहा, सर्वान्तर तुम्हारा आत्मा वो ।

उस इस आत्मा को ही जानकर, ब्राह्मण,[165]
पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा को त्याग,
भिक्षाचर्या से विचरते हैं वो लोक में,
अपनी इन अनात्मलौकिक इच्छाएँ त्याग ।

जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है,
और जो वित्तैषणा है, वही है लोकैषणा,[166]
और ये दोनों साध्य-साधनेच्छाएँ,
और कुछ नहीं हैं, बस है एषणा ।

अत: ब्राह्मण आत्मज्ञान का पूर्ण ग्रहण कर,
उसके बल से स्थित रहने की इच्छा करे,
ऐसे बाल्य[167] और पाण्डित्य को निशेष जान,
फिर मनन कर मुनि भाव को प्राप्त करे ।

अमौन[168] और मौन का पूर्णतया सम्पादन,
ऐसा करके ब्राह्मण कृतकृत्य होता,
जैसे भी हो, ऐसा ही होता है ब्राह्मण,
शेष नाशवान, सुन कहोल चुप हो गया ।

षष्ठ ब्राह्मण

फिर वचक्नु की पुत्री गार्गी ने कहा,
यह जो कुछ है, सब ओतप्रोत है जल में,
किन्तु वह जल किस में ओतप्रोत है,
इस याज्ञवल्क्य से पूछा गार्गी ने ।

याज्ञवल्क्य के 'वायु में' उत्तर देने पर,
उसने पूछा, वायु ओतप्रोत है किसमें,
याज्ञवल्क्य के 'अन्तरिक्ष में' कहने पर,
गार्गी ने पूछा, वो ओतप्रोत है किसमें ?

इस प्रश्नोत्तर के क्रम में याज्ञवल्क्य ने,
अन्तरिक्ष के बाद गन्धर्वलोक में कहा,
फिर आदित्य, चन्द्र, नक्षत्र, देवलोक,
इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोक कहा ।

ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है पूछने पर,
याज्ञवल्क्य ने उसे अतिप्रश्न न करे, कहा,
जो वाणी से व्यक्त न किया जा सके,
उसके लिए अहंकारपूर्ण तर्क नहीं अच्छा ।

---

[165] यहाँ ब्राह्मण इसलिए कहा गया क्योंकि सन्यास में ब्राह्मणों का ही अधिकार है ।

[166] पुत्रैषणा अर्थात पुत्र के लिए इच्छा, मैं पुत्र के द्वारा यह लोक जीतूँगा; वित्तैषणा से उत्थान करके, कर्म के साधनभूत गौ आदि मानुष वित्त को इस भाव से ग्रहण करना कि इसके द्वारा कर्म करके मैं पितृलोक को जय करूँगा अथवा विद्या संयुक्त कर्म से देवलोक या केवल हिरण्यगर्भविद्यारूप दैववित्त से देवलोक प्राप्त करूँगा, इसका नाम वित्तैषणा है । जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है क्योंकि वह फल के लिए ही है ।

[167] बाल्य-अर्थात बलभाव; आत्मज्ञान का बल ।

[168] अमौन-आत्मज्ञान और अनात्म धारणा का तिरस्कार ये अमौन हैं । इन्हें नि:शेष करके तथा अनात्म धारणा के तिरस्कार का पर्यवसान मौन है ।

सप्तम ब्राह्मण

तब आरुणि उद्यालक ने कहा उससे,
जब मैं मद्रदेश में अध्ययन में रत था,
कपिगोत्र में उत्पन्न पतन्चल के घर में,
उसकी भार्या को गन्धर्व से आवेशित देखा ।

यह पूछने पर कि वह कौन है,
'आथर्वण कबन्ध हूँ मैं,' कहा उसने,
फिर पतन्चल और उसके याज्ञिकों से,
एक प्रश्न पूछा उस गन्धर्व ने ।

यह लोक, परलोक और सारे भूत,
जिससे ग्रथित, क्या वह सूत्र जानते,
और जो उन्हें भीतर से नियमित करता,
क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते ?

पतन्चल और उसके याज्ञिकों द्वारा,
अनभिज्ञता जताने पर वह गन्धर्व बोला,
उस सूत्र और अन्तर्यामी का ज्ञाता होता,
लोक, देव, वेद, भूत, आत्म और सर्ववेत्ता ।

फिर पतन्चल और उसके याज्ञिकों से,
उस सूत्र और अन्तर्यामी को बताया,
हे याज्ञवल्क्य ! उसे मैं जानता हूँ,
क्या तुमने भी उनका ज्ञान पाया ?

यदि उसे न जाननेवाले होकर तुम,
ले जाओगे ब्रह्मवेत्ता की स्वभूत गौओं को,
तो यह अनुचित कार्य करने से,
गिरा पाओगे तुम अपने मस्तक को ।

याज्ञवल्क्य के यह कहने पर कि,
मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानता,
उद्यालक बोला, कोई भी कह सकता ऐसे,
यदि जानते तो करो उनकी व्याख्या ।

याज्ञवल्क्य ने कहा, वायु ही वह सूत्र है,
जिसके द्वारा ये सब हैं गुथें हुए,
सो मृतक के अंग विशीर्ण हो गए कहते,
क्योंकि वे थे वायु से संग्रथित किए हुए ।

जो पृथ्वी में रहनेवाला, उसके भीतर है,
उसका शरीर, पर वो उसे नहीं जानती,
उसके भीतर रह, नियमन करता उसका,
वह अमृत तुम्हारा आत्मा है अन्तर्यामी ।

और वो भी जो रहता, नियमन करता,
जल में, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु में,
द्युलोक, आदित्य, दिशाओं, चन्द्रमा,
ताराओं, आकाश, तम और तेज में ।

इस अधिदैवत दर्शन के बाद याज्ञवल्क्य,
करने लगे वर्णन अधिभूत दर्शन का,
पृथ्वी सा ही भूतों में स्थित और नियामक,
वह अन्तर्यामी है तुम्हारा अमृत आत्मा ।

फिर अध्यात्म दर्शन कहते, कहा,
जो प्राण में स्थित, नियमन करता उसका,
ऐसे ही वाणी, चक्षु, मन आदि में रहता,
वह अन्तर्यामी है तुम्हारा अमृत आत्मा ।

देखा नहीं जा सकता, पर सब देखनेवाला,
सुना नहीं जा सकता, पर सब सुननेवाला,
मन, ज्ञान से परे, पर मनन करता, जानता,
वह अन्तर्यामी है तुम्हारा अमृत आत्मा ।

वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है,
इससे भिन्न जो सब है, वो है नाशवान,
याज्ञवल्क्य से यह व्याख्या सुनकर,
उद्यालक के प्रश्नों ने पा लिया विश्राम ।

अष्टम ब्राह्मण

तब गार्गी ने ब्राह्मणों से अनुमति ली,
दो प्रश्न पूछने की, याज्ञवल्क्य से,
कहा, यदि ये इनका उत्तर दे देंगे तो,
कोई जीत न सकेगा इनसे, आप में से ।

अनुमति पा, गार्गी बोली याज्ञवल्क्य से,
चाप पर चढ़े हुए ये तीखे बाण से,
दो प्रश्न ले मैं सामने उपस्थित हूँ,
यदि ब्रह्मवेत्ता हो तो उत्तर दो मुझे ।

जो द्युलोक से ऊपर है, पृथ्वी से नीचे,
जो स्वयं ये दोनों और उनके मध्य में,
वो किससे ओतप्रोत है, हे याज्ञवल्क्य !
जिसे भूत, वर्तमान और भविष्य कहते ?

गार्गी द्वारा पूछे गए प्रश्न को सुन,
याज्ञवल्क्य ने कहा, वह सूत्र है आकाश,
यह उत्तर सुन गार्गी ने उन्हें नमन किया,
कहा, अब दूसरे के उत्तर का करें प्रयास ।

वही पहला प्रश्न और वही उत्तर सुनकर,
गार्गी बोली, ये सब तो ओतप्रोत आकाश में,
हे याज्ञवल्क्य ! अब आप यह बतलाइये,
यह जो आकाश है, वो ओतप्रोत है किसमें ?

याज्ञवल्क्य बोले, आकाश ओतप्रोत जिसमें,
उस इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते,
यह न मोटा, पतला, छोटा, बड़ा, न द्रव,
छाया, वायु, आकाश, रस न गन्ध इसमें ।

न नेत्र, न कान, न वाणी, न मन,
न तेज, न प्राण, न मुख, न माप,
न अन्तर है, न बाहर है इसमें,
न कुछ खाता, न किसी का ग्रास ।

इसके ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा,
विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित रहते,
द्युलोक, पृथ्वी, समय, ऋतु, संवत्सर आदि,
वे भी वैसे ही धारण किये हुए स्थित रहते ।

इस अक्षर के प्रशासन में ही पूर्ववाहिनी,
और अन्य नदियाँ श्वेत पर्वत से बहतीं,
जिस-जिस दिशा को पश्चिमवाहिनी नदियाँ,
बहने लगती, उधर को ही बहती रहतीं ।

इस अक्षर के ही प्रशासन में,
मनुष्य दाता की प्रशंसा करते,
तथा देवगण यजमान का अनुवर्तन,
और पितृगण दर्वीहोम[169] का करते ।

[169] दर्वीहोम-अर्थात पितरों के लिए किए जानेवाला होम ।

इस अक्षर को न जानकर जो कोई,
इस लोक में, हवन, यज्ञ या तप करता,
अन्त हो रहता उस दीन[170] के उस कर्म का,
ब्राह्मण है, मरकर जानेवाला इसका ज्ञाता ।

दृष्टि का विषय नहीं, दृष्टा है अक्षर,
श्रवण का विषय नहीं, स्वयं है श्रोता,
मनन का विषय नहीं, मन्ता है अक्षर,
स्वयं अविज्ञात रह, दूसरों का है विज्ञाता ।

इससे भिन्न न कोई दृष्टा, न श्रोता,
न ही इससे भिन्न है कोई और मन्ता,
कोई विज्ञाता नहीं इससे भिन्न,[171] हे गार्गी !
आकाश इससे ही ओतप्रोत, यही सत्यसत्ता ।

तब गार्गी ने कहा, हे पूज्य ब्राह्मणगण !
यही बहुत इन्हें नमन कर पा लें छुटकारा,
जीत नहीं सकते इन ब्रह्मवेत्ता को हम,
यह कहकर उस गार्गी ने मौन साधा ।

नवम ब्राह्मण

तब शाकल्य विदग्ध ने पूछा उनसे,
हे याज्ञवल्क्य ! देवगण हैं कितने,
वे बोले, देवताओं की संख्या बतानेवाले,
निविद्[172] में बताए 3306 के जितने ।

पुन: पुन: उनकी संख्या पूछने पर,
याज्ञवल्क्य ने क्रमश: यह उत्तर दिया उसे,
तैंतीस, छ:, तीन, दो, डेढ़ और एक,
विदग्ध ने कहा, ठीक, और पूछा उनसे ।

विदग्ध ने पूछा, वे तीन और तीन सौ,
तथा तीन और तीन सहस्त्र देव है कौन से,
ये इतनी तो इनकी महिमाएँ ही हैं,
देवगण तो तैंतीस ही हैं, कहा उससे ।

विदग्ध के वे तैंतीस कौन हैं, पूछने पर,
याज्ञवल्क्य बोले, आठ वसु, ग्यारह हैं रूद्र,
बारह आदित्य मिलकर इकतीस देव,
शेष दो में एक प्रजापति और एक इन्द्र ।

पूछने पर वसुओं का नाम बताया उन्होंने,
यह समस्त जगत निहित है जिनमें,[173]
अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य,
द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र आठवें ।

'रूद्र कौन हैं ?' उनसे पूछने पर बताया,
दस इन्द्रियाँ दस और मन ग्यारहवाँ रूद्र,
ये रूद्र जब मरणधर्मा शरीर से निकलते,
उस समय रुलाते, इसलिए कहाते ये रूद्र ।

---

[170] दीन-कर्मफल के भोग के बाद उसके वे कर्म क्षीण हो ही जाते हैं । इसके सिवा जिसके विज्ञान से कृपणता का अतिक्रमण और संसार का विच्छेद होता है तथा जिसका विज्ञान न होने से कर्मकर्ता कृपण, किए हुए कर्म के फल का ही उपभोग करनेवाला और जन्म-मरण के बन्धन में उलझा रहता है । इसीसे इस अक्षर को न जाननेवाला पैसों से खरीदे हुए गुलाम की तरह दीन है ।

[171] अर्थात यह समस्त चेतना का धातु है ।

[172] निविद्-अर्थात मन्त्र-पद; जितनी संख्यावाले देवता विश्वदेव-सम्बन्धी शस्त्र की निविद् में बताए गए हैं । और वे हैं तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्त्र (तीन हजार तीन सौ छ:) ।

[173] इसीसे उन्हें वसु कहा जाता है ।

फिर आदित्य कौन हैं, यह पूछने पर,
कहा, संवत्सर के अवयवभूत बारह महीने,
आयु और कर्मफल का ग्रहण करते चलते,
इसलिए 'आदित्य'[174] कहा जाता है इन्हें ।

फिर पूछने पर कौन इन्द्र और प्रजापति,
स्तनयित्नु ही इन्द्र है, कहा याज्ञवल्क्य ने,
स्तनयित्नु[175] कौन है, यह पूछने पर,
वह अशनि[176] है, कहा याज्ञवल्क्य ने ।

प्रजापति के लिए कहा, प्रजापति यज्ञ है,
और यज्ञ पशुगण हैं कहा याज्ञवल्क्य ने,
यज्ञ रूपरहित, पशुरूप साधन के अधीन,
इसलिए पशु को यज्ञ कहा, याज्ञवल्क्य ने ।

यह छः देवगण कौन हैं पूछने पर,
याज्ञवल्क्य ने नाम बतलाए उनके,
अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य,
और द्युलोक, ये नाम हैं उन छः के ।

कहा, ये जो वसु आदि तैंतीस देवता है,
ये सभी अन्तर्भूत हैं इन छः देवगण के,
और कहा, तीन देवता ये तीन लोक हैं,
ये सभी देवगण अन्तर्भूत हैं इन तीन के ।

पृथ्वी और अग्नि मिलाकर एक देव है,
वायु और अन्तरिक्ष मिलाकर दूसरे,
आदित्य और द्युलोक तीसरे देव हैं,
कुछ भूः, भुवः, स्वः मानते हैं इन्हें ।

वे दो देवता कौन हैं, पूछने पर,
वे हैं अन्न और प्राण, कहा याज्ञवल्क्य ने,
और वह डेढ़ देवता कौन है, पूछने पर,
वह यह बहनेवाला वायु है, कहा उन्होंने ।

यह वायु एक सा ही चलता है,
फिर क्यों इसे अध्यर्ध[177] कहा जाता,
क्योंके इससे ही प्राप्त होती अधिऋद्धि,[178]
इसलिए इसे अध्यर्ध कहा जाता ।

और एक देव कौन है पूछने पर,
याज्ञवल्क्य बोले वह एक देव है प्राण,
सर्वदेवरूप होने से वह महद् ब्रह्म है,
उसी का त्यत् (तत्)[179] भी है नाम ।

यही है देवताओं का एकत्व और नानात्व,
अनन्त देवों का अन्तर्भाव है 3306 में,
उनका तैंतीस में और उत्तरोत्तर घटते-घटते,
सभी देवों का अन्तर्भाव बस एक प्राण में ।

---

[174] आदित्य-बारह महीने संवत्सररूप काल के अवयव प्रसिद्ध हैं-वे ही आदित्य हैं, क्योंकि ये ही पुनः-पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियों की आयु और कर्मफल का आदान (ग्रहण यानी उपादान) करते हुए चलते हैं । और वे क्योंकि ऐसे इस सबका आदान करते हुए चलते हैं, इसलिए 'आददाना यन्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आदित्य कहलाते हैं ।

[175] स्तनयित्नु-अर्थात विद्युत् ।

[176] अशनि-अर्थात बल, जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह अशनि इन्द्र है ।

[177] अध्यर्ध-अर्थात डेढ़ (एक और उसका आधा) ।

[178] अधिऋद्धि-अर्थात अधिक संपन्नता ।

[179] तत्-अर्थात 'वही', 'वह' ।

उस एक प्राण का ही यह सब,
विस्तार हुआ अनन्त संख्या के रूप में,
यह एक अन्य सबसे विशिष्ट प्राण है,
नाम-रुपादि के भेद से व्यक्त अनेक में ।

शाकल्य बोला, पृथ्वी शरीर है जिसका,
हृदय जिसका लोक, मन ज्योति जिसकी,
और जो समस्त जीवों का आत्मा है,
जिसे जाननेवाला ही कहलाता ब्रह्मज्ञानी ।

हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम उसे जानते,
या बिना जाने ही करते व्यर्थ अभिमान,
याज्ञवल्क्य ने कहा, हाँ, मैं जानता हूँ उसे,
उस शारीर पुरुष का है मुझे ज्ञान ।

हे शाकल्य ! यही वह देव है,
जिसके विषय में तुमने पूछा है मुझसे,
उसका एक और विशेषण आवश्यक है,
उसके विषय में पूछो तुम मुझसे ।

इस प्रकार क्षुभित किए जाने पर,
क्रोधित हो शाकल्य ने पूछा याज्ञवल्क्य से,
कौन उस शरीर में होनेवाले देव का देवता,
'वह अमृत[180] है,' याज्ञवल्क्य ने कहा उसे ।

शाकल्य बोला, काम शरीर है जिसका,
हृदय जिसका लोक, मन ज्योति जिसकी,
और जो समस्त जीवों का आत्मा है,
जिसे जाननेवाला ही कहलाता ब्रह्मज्ञानी ।

हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम उसे जानते,
या बिना जाने ही करते व्यर्थ अभिमान,
याज्ञवल्क्य ने कहा, हाँ, मैं जानता हूँ उसे,
उस काममय पुरुष का है मुझे ज्ञान ।

उसका देवता कौन है पूछे जाने पर,
याज्ञवल्क्य ने कहा, स्त्रियाँ देवता उसकी,
स्त्री से ही काम का उद्दीपन होता,
इसलिए स्त्रियाँ ही देवता हैं उसकी ।

शाकल्य ने फिर यही प्रश्न पूछा,
रूप और चक्षु के संदर्भ में,
याज्ञवल्क्य ने कहा, उसे मैं जानता,
उसका देवता सत्य, कहा उन्होंने ।

फिर शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा,
यही प्रश्न आकाश और श्रोत्र के संदर्भ में,
उत्तर दिया, उस प्रातिश्रुत्क[181] को मैं जानता,
उसका देवता दिशाएँ हैं, कहा याज्ञवल्क्य ने ।

तब शाकल्य ने यही प्रश्न पूछा,
याज्ञवल्क्य से तम के संदर्भ में,
जो यह छायामय पुरुष है, वही यह है,
और मृत्यु उसका देवता कहा उन्होंने ।

यही प्रश्न फिर पूछा गया उनसे,
रूप और नेत्र के संदर्भ में,
दर्पण के भीतर पुरुष उत्तर मिला,
'असू'[182] उसका देवता कहा उन्होंने ।

---

[180] खाये हुए अन्न का जो रस मातृजनित लोहित की निष्पत्ति का कारण होता है, वही अमृत है ।

[181] प्रातिश्रुत्क-अर्थात जो प्रतिश्रवण के समय विशेष रूप से रहता है ।

[182] असू-अर्थात प्राण; क्योंकि प्राण द्वारा घर्षण करने पर ही दर्पण आदि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने योग्य होते हैं ।

जल के संदर्भ में प्रश्न पूछने पर,
याज्ञवल्क्य ने कहा, हाँ, मैं उसे जानता,
जो भी जल में पुरुष है, वही यह है,
और वरुण को बताया उसका देवता ।

वीर्य के संदर्भ में शाकल्य के पूछने पर,
याज्ञवल्क्य ने कहा, हाँ, मैं उसे जानता,
जो भी यह पुत्ररूप पुरुष है, वही यह है,
और प्रजापति को बताया उसका देवता ।

शाकल्य को प्रश्न करते रहते देख,
याज्ञवल्क्य ने कहा उस शाकल्य से,
अंगारे निकालने का चिमटा बना रखा है,
इन ब्राह्मणों ने निश्चय ही तुम्हें ।

इन कुरुपान्चालदेशीय ब्राह्मणों पर जो तुम,
आक्षेप करते हो, उसने कहा याज्ञवल्क्य से,
तो क्या तुम ऐसा इसलिए कर रहे हो,
क्योंकि तुम स्वयं को ब्रह्मवेत्ता समझते ?

याज्ञवल्क्य बोले, मेरा ब्रह्मज्ञान यह है,
कि देवता और प्रतिष्ठा के सहित,
मैं ज्ञान रखता हूँ दिशाओं का,
यह सब मुझे है भलीभाँति विदित ।

शाकल्य बोला, यदि जानते हो तो बताओ,
पूर्व में युक्त हो तुम किस देवता से,
पूर्व दिशा में मैं आदित्य देवतावाला हूँ,
याज्ञवल्क्य ने कहा, उस शाकल्य से ।

आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है पूछने पर,
याज्ञवल्क्य बोले, वो प्रतिष्ठित है नेत्र में,
नेत्र रूप में और रूप हृदय में प्रतिष्ठित,
तो शाकल्य ने हामी भरी सहमति में ।

दक्षिण में किस देवता से युक्त पूछने पर,
वे बोले, मैं हूँ यमदेवतावाला दक्षिण में,
वो यज्ञ में प्रतिष्ठित, यज्ञ दक्षिणा में,
वो श्रद्धा और श्रद्धा प्रतिष्ठित हृदय में ।

पश्चिम में किस देवता से युक्त पूछने पर,
वे बोले, मैं हूँ वरुणदेवतावाला पश्चिम में,
वरुणदेवता प्रतिष्ठित जल में, जल वीर्य में,
और वीर्य प्रतिष्ठित होता पिता के हृदय में ।

पिता के अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र को,
इसीलिए कहते, पिता के हृदय से निकला,
मानों बना हो पिता के हृदय से ही वो,
क्योंको हृदय में ही वीर्य स्थित रहता ।

उत्तर में किस देवता से युक्त पूछने पर,
वे बोले, मैं हूँ सोमदेवतावाला उत्तर में,
वो दीक्षा में प्रतिष्ठित, दीक्षा सत्य में,
हृदय से ज्ञेय, सत्य प्रतिष्ठित हृदय में ।

ध्रुवा[183] में किस देवता से युक्त पूछने पर,
वे बोले, मैं हूँ अग्निदेवतावाला ध्रुवा में,
वो ध्रुवा दिशा प्रतिष्ठित है वाक् में,
और यह वाक् प्रतिष्ठित है हृदय में ।

[183] ध्रुवा-अर्थात ध्रुवा दिशा, मेरु से चारों ओर निवास करनेवाले लोगों से उर्ध्व दिशा का कभी लोप नहीं होता, इसलिए उसे ध्रुवा दिशा कहा गया है । उर्ध्व दिशा में प्रकाश की बहुलता है और प्रकाश ही अग्नि है ।

नाम, रूप, कर्म आदि सब जो कुछ भी है,
यह सब हृदय ही है, सब हृदय में प्राप्त,
समस्त दिशाओं में फैले हृदय के द्वारा,
याज्ञवल्क्य था उनको आत्मभाव से प्राप्त ।

वो हृदय किसमें प्रतिष्ठित है, पूछने पर,
'अरे प्रेत!' कहते, उसे कहा, याज्ञवल्क्य ने,
हृदय से पृथक हुए हृदयहीन शरीर को तो,
कुत्ते और पक्षी नोच-नोचकर लगते खाने ।

तब तुम (शरीर) और आत्मा (हृदय),
किसमें प्रतिष्ठित हो, शाकल्य ने पूछा,
याज्ञवल्क्य के 'प्राण में,' कहने पर,
प्राण किसमें प्रतिष्ठित हैं, उसने पूछा ।

प्राण अपान में प्रतिष्ठित हैं कहने पर,
शाकल्य यही प्रश्न क्रमश: पूछता रहा,
क्रमश: व्यान, उदान, समान उत्तर दे,[184]
उन्होंने शाकल्य को लक्षित कर कहा ।

नेति-नेति कह निरूपित किया गया जिसे,
वह आत्मा ग्रहण नहीं किया जा सकता,
ना नष्ट होता वो, न ही संसक्त होता,
उसे व्यथित ना हिंसित किया जा सकता ।

ये जो आठ आयतन, लोक, देव और पुरुष,
वह जो इन पुरुषों को निश्चयपूर्वक जान,
औपाधिक धर्मों का अतिक्रमण किये हुए है,
उस औपनिषद पुरुष का क्या तुम्हें ज्ञान ?

यदि स्पष्टतया तुम बतला न सकोगे,
तो गिर जाएगा तुम्हारा यह मस्तक,
सो मस्तक गिर गया उस शाकल्य का,
चोर चुरा ले गए उसकी हड्डियाँ तक ।

यह सब हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने,
उन ब्राह्मणों से प्रश्न करने को कहा,
एक-एक कर या करें सामूहिक रूप से,
पर किसी का पूछने का साहस न हुआ ।

तब याज्ञवल्क्य ने पूछा उन ब्राह्मणों से,
वृक्ष होता जैसे विशालता आदि गुणोंवाला,
वैसे ही वृक्ष जैसे धर्मों से पुरुष भी युक्त,
पत्तों से रोएँ और छाल सी तवचावाला ।

छाल से रस, त्वचा से रक्त निकलता,
मांस की तरह, छाल के भीतर का भाग,
पुरुष के स्नायुजाल सा किनाट[185] वृक्ष में,
मज्जा एक सी, हड्डियों की तरह काष्ठ ।

किन्तु यदि वृक्ष को काट दिया जाए,
वो पुन: मूल से नवीन हो अंकुरित होता,
ऐसे ही यदि मनुष्य को मृत्यु काट डाले,
तो किस मूल से वह उत्पन्न होता ?

यदि कहो कि वह वीर्य से उत्पन्न होता,
तो वीर्य तो जीवित पुरुष में ही होता,
वृक्ष तने से ही नहीं, उगता बीज से भी,
बीज से भी उगा, पुन: अंकुरित हो उगता ।

---

[184] प्राण (श्वास को बाहर छोड़ना) अपान (श्वास को भीतर खींचना) में प्रतिष्ठित हैं क्योंकि यदि प्राणवृत्ति अपानवृत्ति द्वारा न रोकी जाय तो वह ऊपर-ही-ऊपर बाहर निकल जाय । ऐसे ही व्यानवृत्ति अपान को नीचे ही चले जाने से रोकती है; और यदि ये तीनों वृत्तियाँ कीलस्थानीय उदानवृत्ति में बंधी न हों तो सब ओर ही चली जायँ, और ये सब वृत्तियाँ समान में ही प्रतिष्ठित हैं ।

[185] किनाट-पुरुष के मांस की तरह वनस्पति के छाल के भीतर का अंश जिसे शकल कहते हैं होता है और किनाट शकलों से भीतर काठ से लगी हुई छाल होती है जिसके सदृश पुरुष की शिराएँ होती हैं ।

वृक्ष को यदि मूल से उखाड़ दिया जाए,
तो वह फिर उत्पन्न नहीं होगा,
ऐसे ही यदि मृत्यु पुरुष का छेदन कर दे,
तो वह किस मूल में उत्पन्न होता ?

यदि मानों कि पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया,
तो फिर जन्मेगा नहीं, ठीक नहीं ये सोचना,
वह पुरुष मरकर फिर उत्पन्न होता ही है,
तो कौन इसे उत्पन्न करेगा, है मेरा पूछना ।

वे ब्राह्मण इसका उत्तर दे न सके,
जीत लिए गए वो याज्ञवल्क्य के द्वारा,
अत: ब्रह्मिष्ठ होने के कारण उन गौओं का,
हरण कर लिया गया याज्ञवल्क्य के द्वारा ।

श्रुति स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर देती,
विज्ञान आनन्द ब्रह्म है, श्रुति कहती,
वह परमगति कर्म करनेवाले यजमान की,
परम आश्रय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता का भी ।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

विदेह जनक जब आसन पर स्थित था,
तभी याज्ञवल्क्यजी उसके पास आए,
पशुओं के या सूक्ष्मान्त[186] के लिए आए,
तो वे बोले दोनों के लिए ही आए ।

तुझसे किसी आचार्य ने जो कहा हो,
याज्ञवल्क्यजी बोले, वह हम सुनना चाहते,
शिलिन के पुत्र जित्वा ने, जनक बोले,
'वाक् ही ब्रह्म है', ऐसा कहा है मुझसे ।

मातृ, पितृ और आचार्यमान[187] जो होता,
उसका वचन बिना प्रमाण नहीं हो सकता,
वैसे ही उपदेश किया तुम्हें उसने, क्योंकि,
बिना बोलनेवाले को क्या लाभ हो सकता ?

मूक को तो लौकिक या पारलौकिक,
कोई भी लाभ नहीं हो सकता,
पर क्या उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी,
तुम्हें बताए हैं उसने, उन्होंने पूछा ।

जनक के ना कहने पर कहा उन्होंने,
यह तो है केवल एक पादवाला ब्रह्म,
वाक् ही उसका आयतन, आकाश प्रतिष्ठा,
उसकी 'प्रज्ञा' इस प्रकार उपासना उत्तम ।

जनक ने पूछा प्रज्ञा की प्रज्ञता क्या है,
तो 'वाक् ही प्रज्ञता है,' कहा याज्ञवल्क्य ने,
वाक् से ही बन्धु का ज्ञान होता है,
उससे ही ज्ञान, भूख-प्यासादि जाते जाने ।

लोक-परलोक और समस्त भूत,
ये सब वाक् से ही जाने जाते,
वाक् को ही परब्रह्म जाननेवाले,
वाक् द्वारा कभी नहीं त्यागे जाते ।

जो विद्वान ऐसे उपासना करता इसकी,
वह देव होकर प्राप्त होता है देवों को,
तब इस विद्या से उपकृत जनक ने,
एक सहस्त्र पुष्ट गौएँ दी याज्ञवल्क्य को ।

पुन: जनक से पूछा याज्ञवल्क्यजी ने,
किसी आचार्य ने तुम्हें क्या बताया,
जनक बोले, शुल्ब के पुत्र उदंक ने,
मुझे 'प्राण ही ब्रह्म है,' ऐसा बताया ।

मातृ, पितृ और आचार्यमान जो होता,
उसका वचन बिना प्रमाण नहीं हो सकता,
वैसे ही उपदेश किया तुम्हें उसने, क्योंकि,
बिना प्राणक्रिया के क्या लाभ हो सकता ?

फिर पूर्ववत प्राण वायुदेवता है,
प्राण ही आयतन, आकाश प्रतिष्ठा बताया,
इसकी 'प्रिय' इस रूप से उपासना करे,
इस प्रकार से उपनिषद् ने है बताया ।

---

[186] सूक्ष्मान्त-अर्थात सूक्ष्म वस्तु के निर्णय में समाप्त होनेवाले प्रश्न सुनने की इच्छा से ?

[187] मातृ, पितृ और आचार्यमान-अर्थात मातृमान, पितृमान और आचार्यमान-जिस पुत्र का सम्यक प्रकार से अनुशासन करनेवाली माता विद्यमान है, ऐसे ही पिता विद्यमान है और उपनयन के पश्चात समावर्तन संस्कार तक आचार्य जिसका अनुशासन करनेवाला है ।

इसकी प्रियता किस प्रकार है, पूछने पर,
वो बोले, सब किया जाता प्राण के ही लिए,
प्रतिग्रह न लेने योग्य से प्रतिग्रह लेते,
अयाज्य से यजन कराते, इसके लिए ।

चोरादि से आक्रान्तित दिशाओं में जाने पर,
वध के कारण होनेवाली आशंका रखते,
यह सब प्राण की प्रियता होने के कारण,
प्राण के लिए ही यह सब कोई करते ।

अत: हे राजन् ! प्राण ही परमब्रह्म है,
ऐसा जान जो इसकी उपासना करता,
देव होकर, देवों का प्राण होता वो,
और प्राण उसको कभी नहीं त्यागता ।

फिर पूछने पर, अन्य आचार्यों का बताया,
चक्षु, श्रोत्र और मन ब्रह्म बताया उन्होंने,
सत्य, अनन्त और आनन्द रूप से इनकी,
उपासना करे, जनक को कहा उन्होंने ।

चक्षु द्वारा देखा सत्य, चक्षु सत्यता,
श्रोत्र ही दिशाएँ, दिशाएँ ही अनन्तता,
मन से ही आनन्द, मन ही आनन्दता,
इनका ऐसा उपासक पूर्ववत फल पाता ।

पुन: जनक से पूछा याज्ञवल्क्यजी ने,
किसी आचार्य ने तुम्हें क्या बताया,
तब जनक बोले, विदग्ध शाकल्य ने,
मुझे 'हृदय ही ब्रह्म है,' ऐसा बताया ।

उसका आयतन और प्रतिष्ठा पूछने पर,
जनक ने कहा, मुझे ये नहीं बताया,
हृदय ही आयतन, आकाश प्रतिष्ठा है,
याज्ञवल्क्यजी ने जनक को बताया ।

यह भी एक पादवाला ब्रह्म है, जिसकी,
'स्थिति' इस रूप से करे उपासना,
स्थितता क्या है, यह पूछने पर,
याज्ञवल्क्यजी बोले, हृदय ही है स्थितता ।

हृदय ही सब भूतों का आयतन है,
हृदय ही है सब भूतों की प्रतिष्ठा,
हृदय ही परमब्रह्म, जानता जो उपासक,
ऐसे उपासक को हृदय नहीं त्यागता ।

हाथी से हृष्ट-पुष्ट बैल जन्मनेंवाली,
फिर से सहस्त्र गौएँ दी उन्हें, जनक ने,
शिष्य को कृतार्थ किए बिना धन न लेना,
याज्ञवल्क्यजी बोले, मुझे कहा पिता ने ।

द्वितीय ब्राह्मण

विदेहराज जनक ने विनती की उनसे,
कि याज्ञवल्क्यजी उन्हें उपदेश करें,
वे बोले, तू समाहितचित्त[188] हो गया है,
सो समुचित उपदेश मिल चुका है तुझे ।

इस प्रकार तू पूज्य और श्रीमान,
अधीतवेद और उक्तोपनिषत्क[189] हो गया,
पर इतना होने पर भी शरीर से छूट,
तू कहाँ जाएगा, क्या तुझको है पता ?

[188] समाहितचित-अर्थात तू इन उपनिषदों-उपासनाओं से युक्त इन ब्रह्मों की उपासना करके समाहितचित्त हो गया है ।

[189] अधीतवेद और उक्तोपनिषत्क-अधीतवेद अर्थात जिसने वेद का अध्ययन कर लिया हो और उक्तोपनिषत्क अर्थात जिसे आचार्य ने उपनिषदों का उपदेश कर दिया है ।

जनक बोले, भगवन् ! मैं मरकर,
कहाँ जाऊँगा, सो मुझे नहीं है पता,
वे बोले, मैं तुझे बतलाऊँगा यह,
मुझ पर कृपा कीजिए, जनक ने कहा ।

यह जो दक्षिण नेत्र[190] में पुरुष है,
वे बोले, यह है इन्ध नामवाला,
परोक्षरूप से इसे इन्द्र कहते हैं,
प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं देवता ।

'चक्षु ही ब्रह्म है,' ऐसे आदित्यान्तर्गत,
वर्णन किया गया पहले जिस पुरुष का,
वह यह विशेषतया दक्षिण नेत्र में स्थित,
चमकनेवाला होने से इन्ध नाम इसका ।

इस प्रकार जानने से हे राजन् ! तुम,
प्राप्त हो गए हो वैश्वानर आत्मा को,
इस वैश्वानर आत्मा को जान अब,
जानों उसे बाएँ नेत्र में पुरुषरूप है जो ।

यह जो बाएँ नेत्र में पुरुषरूप है,
इन्द्र की पत्नी विराट्[191] जानों उसको,
भोक्ता इन्द्र की यह भोग्यारूप पत्नी,
भोग्य होने से विराट् अन्न है वो ।

जो कि यह हृदयान्तर्गत आकाश है,
संस्ताव[192] है यह उन दोनों का,
और जो हृदयान्तर्गत लाल पिण्ड है,
यह पिण्ड अन्न[193] है इन दोनों का ।

भोजन करनेवालों और सोनेवालों का,
लोक में जिस तरह प्रावरण होता,
यह जो हृदय के भीतर जाल[194] सा है,
वैसे ही आच्छादन है इन दोनों का ।

स्वप्न से जागृति में आने का मार्ग,
संचरणी, जिससे ये करते हैं संचार,
यह जो हृदय से ऊपर की ओर नाड़ी जाती,
यही उनके संचार करने का द्वार ।

सहस्त्र भागों में बाँटा हुआ केश,
जिस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता,
ऐसे ही सूक्ष्म 'हिता' नामक नाड़ियों से,
सूक्ष्मतर अन्न शरीर में सर्वत्र जाता ।

वैश्वानर से तैजस, उससे हृदयात्मा,
फिर प्राणात्माभाव को प्राप्त इस विद्वान के,
प्राची दिशा पूर्वगत प्राण हैं, और,
पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण हैं इसके ।

---

[190] दक्षिण नेत्र-अर्थात दाहिनी आँख ।

[191] विराट्-अर्थात अन्न ।

[192] संस्ताव-अर्थात मिलन का स्थान । जहाँ मिलकर दोनों एक-दूसरे का संस्तव यानी प्रशंसा करते हैं ।

[193] अन्न-खाए हुए अन्न का स्थूल भाग नीचे चला जाता है और जो दूसरा भाग होता है पुन: अग्नि से पचाया जाकर दो भागों में परिणित हो जाता है-जो मध्यम रस होता है वह, लौहितादि क्रम से पांचभौतिक पिण्डरूप शरीर को पुष्ट करता है और जो सूक्ष्मतम रस होता है वो हृदय में (लिंगात्मा इन्द्र का लौहितपिण्ड, जिसे तैजस कहते हैं) स्थित इन्द्र और इन्द्राणी की स्थिति का कारण होता है ।

[194] जाल-अनेक नाड़ी-छिद्रों की बहुलता होने के कारण जाल के समान है ।

ऐसे ही उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं,
उर्ध्व दिशा हैं उर्ध्व प्राण इसके,
नीचे की दिशा नीचे के प्राण हैं,
सम्पूर्ण दिशाएँ, सम्पूर्ण प्राण इसके ।

नेति-नेति कह निरूपित किया गया जिसे,
वह आत्मा ग्रहण नहीं किया जा सकता,
ना नष्ट होता वो, न ही संसक्त होता,
उसे व्यथित ना हिंसित किया जा सकता ।

तू अभय को प्राप्त हो गया, कहने पर,
जनक बोले, आपने ही बताया अभय ब्रह्म,
नमस्कार ! आपको भी अभय प्राप्त हो,
यह विदेह देश और मैं हूँ आपकी शरण ।

तृतीय ब्राह्मण

विदेहराज जनक के पास गए याज्ञवल्क्य,
सोचा था, मैं कोई उपदेश नहीं करूँगा,
पर पहले कभी उनसे मिले वर के बल,
राजा ने ही पहले उनसे प्रश्न किया ।

पूछा, यह पुरुष किस ज्योतिवाला है,
वे बोले, यह है आदित्यरूप ज्योतिवाला,
आदित्यरूप ज्योति से ही यह बैठता, जाता,
अपना कर्म करता और लौट जाता ।

जनक ने पूछा, आदित्य के अस्त होने पर,
किस ज्योतिवाला यह पुरुष होता,
वे बोले, तब चन्द्रमा ज्योति होता उसकी,
चन्द्रमारूप ज्योति से ही वो सब करता ।

चन्द्रमा के अस्त होने पर, पूछने पर,
वे बोले, तब अग्नि ही इसकी ज्योति होता,
अग्नि शान्त होने पर, वाक् ज्योति होती,
वाक् का प्रकाश हर ओर अबाध्य होता ।

इन सबके अस्त होने पर, पूछा तो,
वे बोले, आत्मा ही इसकी ज्योति होता,
आत्मा द्वारा ही उठता-बैठता, आता-जाता,
कर्म करता और फिर लौट आता ।

यह आत्मज्योति अपने भीतर ही है,
जो सूर्य आदि की भाँति देखी नहीं जाती,
चक्षु आदि इन्द्रियों से भिन्न होती हुई,
इन इन्द्रियों से वह देखी नहीं जाती ।

आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है या नहीं,
यह सन्देह मिटाने को जनक ने पूछा,
यह आत्मा कौन है, कृपाकर बतलाएँ,
तब याज्ञवल्क्यजी ने इस प्रकार कहा ।

प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर रहनेवाला,
विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है जो,
लोक और परलोक दोनों में संचार करता,
बुद्धिवृत्तियों के ही सदृश होकर वो ।

बुद्धिवृत्ति के अनुसार मानों चिन्तन करता,
प्राणवृत्ति के अनुरूप हो मानों चेष्टा करता,
अतिक्रमण करता स्वप्न हो इस लोक[195] का,
मृत्यु के रूपों[196] का भी अतिक्रमण करता ।

[195] इस लोक-अर्थात देहेन्द्रियसंघात का ।

[196] मृत्यु के रुपों का-अर्थात शरीर और इन्द्रियरूप मृत्यु का ।

आत्मभाव से शरीर को प्राप्त हो,
वह यह पुरुष संश्लिष्ट हो जाता पापों[197] से,
और मृत्यु के समय वह यह पुरुष,
अलग हो रहता उन समस्त पापों से ।

जन्म और मरण के द्वारा यह पुरुष,
देहेन्द्रियाँ ग्रहण और त्याग करता रहता,
जब तक संसार बन्धन से मुक्त नहीं होता,
इह और परलोक में संचार करता रहता ।

एक यह लोक और दूसरा परलोक,
उस इस पुरुष के हैं ये दो ही स्थान,
मध्य स्थान स्वप्न में स्थित रहकर,
देखता रहता वह वो दोनों स्थान ।

परलोक स्थान के लिए यह पुरुष,
जैसे साधन से सम्पन्न होता,
उस साधन का आश्रय लेकर यह,
दुःख और आनन्द दोनों ही देखता ।

जिस समय यह सोता है, उस समय,
जाग्रत अवस्था के स्वरूप को लेकर,
अपनी ही ज्योति से देखता है यह,
अपनी ही स्वप्न की दुनिया बनाकर[198] ।

उस अवस्था में न रथ, न घोड़े, न मार्ग,
यह स्वयं ही उन सबकी रचना कर लेता,
आनन्द, मोद, प्रमोद, नदी, तालाब आदि,
सबकी कर्तारूप में यह रचना कर लेता ।

इस विषय में यह श्लोक है कि आत्मा,
स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट कर,
प्रकाशित करता सब सोये हुए भावों को,
स्वयं न सोता, सब करता असुप्त रह कर ।

इन्द्रियों की ज्योति को लेकर वह,
पुनः जागृत अवस्था में आता,
वह स्वर्णमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष,
अकेला ही दोनों स्थानों में जाता ।

प्राण से रक्षा करता इस निकृष्ट शरीर की,
वह अमृतधर्मा, शरीर से बाहर घूमता,
अकेले घूमनेवाला स्वर्णमय अमृत पुरुष,
वह जहाँ चाहता, वहीं चला जाता ।

स्वप्नावस्था में ऊँच-नीच भावों को प्राप्त,
वह देव बहुत से रूप बना लेता,
आनन्द मनाता, हँसता-खेलता भी वो,
और भयावह दृश्य भी वो देखते रहता ।

सब लोग उसके विश्राम-स्थल को ही देखते,
उस स्वयं-प्रकाश पुरुष को कोई नहीं देखता,
कुछ कहते सोये को जगाओ न अचानक,
ऐसा करने से, कहते, इसे दुःख पहुँचता[199] ।

ऐसे ही कोई अन्य लोग कहते हैं कि,
यह स्वप्न ही जगह है इसके जागने की,
क्योंकि जो पदार्थ यह जागने पर देखता,
उन्हीं को देखता है यह सोया हुआ भी ।

---

[197] अर्थात जन्म के समय देह और इन्द्रियों को प्राप्त हो वह पाप से संश्लिष्ट हो जाता है ।

[198] अर्थात स्वयं ही इस स्थूल देह को अचेतकर और स्वयं अपने वासनामय देह को रचकर, अपने प्रकाश से अर्थात अपने ज्योतिःस्वरूप से शयन करता है; इस अवस्था में यह पुरुष ज्योतिःस्वरूप होता है ।

[199] कुछ लोग कहते हैं कि इस सोये हुए आत्मा को अचानक नहीं जगाना चाहिए; जिस इन्द्रिय प्रदेश में यह सोया हुआ होता है, उसमें प्राप्त न होने से इसका शरीर दुखित हो जाता है ।

किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि,
उस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योति होता,
तब जनक ने उन्हें सहस्त्र मुद्रा देकर,
आग्रह किया मोक्षार्थ और उपदेश करने का ।

इस सुषुप्ति में रमण और विहार कर,
वह यह आत्मा वहाँ बस दृष्टा ही रहता,
लौट आता यह पुन: स्वप्नावस्था को,
जो कुछ देखा उससे असम्बद्ध रहता ।

जिस प्रकार आया, जहाँ से आया,
उस जागरित स्थान को लौट जाता,
जो देखा उससे यह बँधता नहीं,
क्योंकि यह असंग पुरुष, असंग रहता ।

यह बात ऐसी ही है, ऐसा कह,
फिर एक सहस्त्र मुद्रा दीं जनक ने,
और याज्ञवल्क्य से अनुरोध किया,
और आगे मोक्ष हेतु कहिए मुझे ।

रमण और विहार कर जागरित अवस्था में,
वह यह पुरुष पाप और पुण्य देखकर,
फिर जिस प्रकार आया था उसी मार्ग से,
चला जाता यथास्थान स्वप्नस्थान लौटकर ।

जैसे कोई महामत्स्य स्वच्छंद होकर,
नदी के दोनों तीरों पर क्रमश: संचार करता,
वैसे ही स्वप्नस्थान और जागिरतस्थान में,
यह पुरुष दोनों में क्रमश: संचार करता ।

जैसे श्येन या सुपर्ण[200] इस आकाश में,
थककर पंख फैला घोसलें की ओर उड़ता,
गहरी नींद में भोग न स्वप्न दिखे जहाँ,
यह पुरुष इस स्थान को वैसे ही दौड़ता ।

केश से भी सहस्त्र गुणा बारीक नाड़ियाँ,
भरी हुई नील, हरित आदि रंगों के रस से,
सम्पूर्ण शरीर में फैली ये हिता नाड़ियाँ,
सत्तरह तत्वों का लिंगशरीर रहता इनमें ।

संसार के ऊँच-नीच धर्मों के अनुभव से,
उत्पन्न वासनाएँ रहतीं अधीन उसीके,
रसरूप उपाधि के ससर्ग से वह लिंगशरीर,
भासित होता युक्त हुआ वासना से ।

वासनाओं के कारण जब लगता इसे,
डर चोर, पशु, गड्डे में गिरने आदि का,
अविद्याजनित वासना के उद्भव के कारण,
तब यह केवल भ्रान्ति से ग्रस्त होता ।

जागरित अवस्था में यह जो कुछ,
भयावह या कुछ अच्छा सा देखता,
इस स्वप्नावस्था में भी वह मिथ्या ही,
वैसा ही बुरा या अच्छा देखने लगता ।

जब अविद्या अत्यन्त क्षीण हो जाती और,
सर्वात्म विषयणी विद्या का उद्भव होता,
उस भाव से भावित रहने से स्वप्न में भी,
'मैं ही यह सर्वरूप हूँ,' वह ऐसा मानता ।

[200] श्येन या सुपर्ण-बाज और गरुड़ ।

यह सर्वात्मभाव ही है इस आत्मा का,
स्वाभाविक परम आत्मभाव, परमलोक,
अविद्या का अपकर्ष, विद्या की पराकाष्ठा,
इससे जनित सर्वात्मभाव ही है मोक्ष ।

प्रज्ञात्मा से आलिंगित होने पर यह पुरुष,
न बाहर, न भीतर का, कुछ नहीं जानता,
काम, पापपुण्यरहित, अभयरूप, आप्तकाम,
आत्मकाम, अकाम, शोकशून्यरूप ये इसका ।

पिता, माता, चोर, चाण्डाल, लोक, देव आदि,
इस सुषुप्ति में सबसे असम्बद्ध हो जाता,
पुण्य और पाप से भी कोई सम्बन्ध नहीं,
उसके हृदय से सम्पूर्ण शोक मिट जाता ।

वह जो उस समय नहीं देखता,
सो वह देखता हुआ ही नहीं देखता,
यह दृष्टा की दृष्टि का लोप नहीं,
एक वही होता, तब कोई और न होता ।

ऐसे ही वो सूँघता, चखता नहीं,
न बोलता, न सुनता, न मनन करता,
न स्पर्श करता, न कुछ जानता वो,
क्योंकि उसके सिवा वहाँ कोई और न होता ।

जागरित और स्वप्न के समान,
कोई दूसरी वस्तु जिसे पुरुष जाने,
सुषुप्ति में होती नहीं कोई ऐसी वस्तु,
उससे भिन्न, जिसे वो पुरुष जाने ।

यदि यही इसका स्वभाव तो उसे छोड़,
होता ही क्यों हैं इसे विशेष ज्ञान,
और यदि विशेष विज्ञान स्वभाव इसका तो,
क्यों नहीं होता सुषुप्ति में विशेष का ज्ञान ?

जहाँ आत्मा से भिन्न अन्य सा होता,
देख सकता वहाँ अन्य अन्य को,
सूँघ चख, बोल, सुन, मनन कर सकता,
स्पर्श कर सकता, जान सकता अन्य को ।

जल के समान स्वच्छ हो जो मानों,
जल में प्रतिबिम्बित होता वो जल ही,
वैसा ही यह पुरुष एक दृष्टा है क्योंकि,
उससे भिन्न दूसरे की सत्ता ही नहीं ।

आत्मज्योति स्वभाव वाली दृष्टि का,
लोप न होने के कारण वो है दृष्टा,
और अन्य दृष्टव्य का अभाव होने से,
एक अद्वैत है वो ऐसा ब्रह्मज्ञानी दृष्टा ।

हे जनक ! यह अमृत और अभय है,
ऐसा ब्रह्मलोक, ब्रह्म ही लोक जहाँ,
देहेन्द्रियरूप उपाधि आदि से छूटकर,
पूर्णमुक्त, आत्मज्योति में स्थित रहता ।

यह इसकी परमगति, परम सम्पत्ति,
यह इसका परम लोक, परमानन्द इसका,
इस आनन्द की मात्रा के आश्रित ही,
अन्य प्राणियों का जीवन धारण होता ।

कोई युवक श्रेष्ठ सदाचारी, विद्वान हो,
सम्पूर्ण अंग और इंद्रियाँ सुदृढ़ हों उसके,
कुशल शासक, समस्त पृथ्वी का राजा,
मानव-लोक का परम-आनन्द कहेंगे इसे ।

इस मानवलोक के जो सौ आनन्द हैं,
वह पितृगण का है एक आनन्द,
श्राद्धादि कर्मों से पितरों को संतुष्ट कर,
पितृगण पाते हैं यह आनन्द ।

जो ऐसे पितृगण के सौ आनन्द हैं,
गन्धर्वलोक का है वह एक आनन्द,
इस गन्धर्वलोक के जो सौ आनन्द हैं,
वह कर्मदेवों[201] का है एक आनन्द ।

और जो कर्मदेवों के सौ आनन्द हैं,
वह आजान[202] देवों का है एक आनन्द,
भोगों से विरक्त, वेदज्ञ-पुरुष को,
स्वभाव से ही प्राप्त है वह आनन्द ।

जो आजान देवों के सौ आनन्द हैं,
प्रजापतिलोक का है वह एक आनन्द,
भोगों से विरक्त, वेदज्ञ-पुरुष को,
स्वभाव से ही प्राप्त है वह आनन्द ।

जो प्रजापतिलोक के सौ आनन्द हैं,
ब्रह्मलोक का वह है एक आनन्द,
भोगों से विरक्त, वेदज्ञ-पुरुष को,
स्वभाव से ही प्राप्त है यह आनन्द ।

उत्तरोत्तर सौगुनी वृद्धि को प्राप्त हुए,
जहाँ एकता को प्राप्त हो जाते ये आनन्द,
जो विरक्त, वेदज्ञ को सहज प्राप्त है,
हे राजन ! यही है वह परम आनन्द ।

वहाँ न कोई दूसरा देखता, सुनता,
हे राजन ! इसलिए वह है भूमा,
और भूमा होने के कारण अमृत है,
अन्य कोई आनन्द रहता न सदा ।

जनक बोले, एक सहस्त्र गौएँ देता आपको,
अब आगे मोक्ष के लिए ही कहिए,
यज्ञवल्क्यजी ने सोचा, जनक मेधावी है,
सब छोड़, मोक्ष-विज्ञान ही इसे चाहिए ।

रमण और विहार कर, पाप, पुण्य देख,
वह यह पुरुष स्वपनान्त में लौट आता,
जिस मार्ग से गया था उसी मार्ग से,
जागिरत-अवस्था को ही वो लौट आता ।

स्वप्न स्थान से जागरित स्थान में,
जिस प्रकार से यह आत्मा आया,
वैसे ही इस देह से मरणोपरान्त,
दूसरे देह में इसका प्रवेश बताया ।

शब्द करते हुए चलता है लोक में,
अत्यधिक बोझ से लदा छकड़ा जैसे,
यह देही आत्मा प्राज्ञात्मा से अधिष्ठित हो,
ऊर्ध्वोच्छ्वास छोड़ते समय चलता वैसे ।

मर्मस्थानों के छेदन किए जाने पर,
यह जो है लिंग-देहोपाधिक आत्मा,
दुःख और वेदना से व्याकुल हो,
शब्द करता हुआ जाता यह आत्मा ।

स्मृति नष्ट हो जाती उस समय पुरुष की,
पुरुषार्थ करने का उसमें सामर्थ्य न रहता,
श्रुति करुणावश कहती सावधान रहने को,
समय रहते ही कर ले जो करना चाहता ।

---

[201] कर्मदेव-अर्थात कर्म द्वारा देवत्व को प्राप्त ।

[202] आजान-अर्थात जन्मसिद्ध ।

आम, गूलर आदि फल सूखकर जैसे,
छूट जाते हैं अपने फल-बन्धन से,
वैसे ही देह के कृशकाय होने पर,[203]
यह पुरुष छूट जाता इन अंगों से ।

जिस मार्ग से आया था यह पुरुष,
उसी मार्ग से यह पुन: लौट जाता,
प्राणव्यूह की विशेष अभिव्यक्ति के लिए,
कर्म और विद्यानुसार योनि में जाता ।

जिस प्रकार कि आते हुए राजा की,
अन्न, पान और निवास आदि तैयारकर,
अधिकारी और मुखिया प्रतीक्षा करते,
बाट जोहते 'ये आये,' 'ये आये,' कहकर ।

वैसे ही शरीर की रचना करनेवाले भूत,
और इन्द्रियों के अनुग्राहक सूर्यादि देवता,
उसके कर्मफल भोग के साधनों सहित,
प्रतीक्षा करते कि हमारे पास आ रहा ।

जैसे बहिर्गामी राजा के अभिमुख हो,
अधिकारी और मुखिया उसके पास जाते,
अन्तकाल मे आत्मा के अभिमुख हो,
वैसे ही सारे प्राण इसके साथ जाते ।

चतुर्थ ब्राह्मण

स्वयं अमूर्त होने के कारण आत्मा,
ऐसे तो अबलभाव को प्राप्त न होता,
किन्तु देह कि दुर्बलता के कारण,
मानों सम्मोह[204] को यह प्राप्त होता ।

तब अभिमुखता से आये वागादि प्राणों के,
तेज को ये सम्यकरूप से ग्रहण कर लेता,
उस तेजोमात्रा को साथ ले यह आत्मा,
हृदय में ही अभिव्यक्त ज्ञानवान हो लेता ।

देह रहने तक इन्द्रियाभिमानी देवअंश,
इन्द्रियों का उपकार करते विद्यमान रहते,
मरने पर अपना यह धर्म छोड़कर वे,
अपने देवत्वस्वरूप में लीन हो रहते ।

इन्द्रियाँ लिंगात्मा से जब एकरूप हो जातीं,
तो यह नहीं देखता-सूँघता आदि कहा जाता,
प्रकाशित होने लगता हृदय का निकास मार्ग,
उसीसे ये आत्मा नेत्रादि से बाहर निकलता ।

प्राण उत्क्रमण करता उसके साथ ही,
सब इन्द्रियरूप प्राण भी साथ चले जाते,
विज्ञानमय आत्मा जाता विज्ञानमय प्रदेश,
साथ ही ज्ञान, कर्म और वासना भी जाते ।

तृण के अन्त पर पहुँचकर जोंक जैसे,
दूसरा आश्रय पकड़ स्वयं को सकोड़ लेता,
वैसे ही यह आत्मा पूर्व प्राप्त शरीर छोड़,
दूसरी देह आत्मभाव से ग्रहण कर लेता ।

जैसे सोनार सुवर्ण का भाग लेकर,
दूसरा अधिक सुन्दर रूप रच लेता,
वैसे ही यह आत्मा यह शरीर नष्ट कर,
पितर, देवादि दूसरा रूप रच लेता ।

---

[203] अर्थात वृद्धावस्था या रोगादि के कारण कृशकाय होने पर ।

[204] सम्मोह-अर्थात सम-मूढ़ता; अत्यन्त अचेतनता ।

यह आत्मा ब्रह्म है विज्ञानमय, मनोमय,
समस्त इन्द्रिय और समस्त भूतमय,
तेज, अतेज, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध,
धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय ।

जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष है, वह वही है,
उस जैसे करनेवाला, आचरणवाला हो जाता,
पुण्यकर्म से पुरुष पुण्यवान हो जाता,
और पापकर्म करने से वो पापी हो जाता ।

कोई-कोई कहते काममय ही है यह पुरुष,
जैसी कामना, वैसा ही यह संकल्प करता,
जैसा संकल्प वैसा ही कर्म करता है यह,
और जैसा कर्म, वैसा फल प्राप्त करता ।

इस विषय में यह मन्त्र है कि,
इसका मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता,
उसी फल को यह साभिलाष होकर,
कर्म के सहित प्राप्त करनेवाला होता ।

इस लोक में यह जो कुछ करता है,
उसका फल प्राप्त कर यह उस लोक से,
कर्म करने को फिर आ जाता लोक में,
कामना करनेवाला पुरुष ही करता ऐसे ।

और जो कामना न करनेवाला पुरुष है,
जो निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम होता,
प्राण और इन्द्रिय दूसरा देह धारण न करते,
ब्रह्म ही रहकर वो ब्रह्म को प्राप्त होता ।

जिस समय इसके हृदय में आश्रित,
सम्पूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता,
तो फिर अमृत हो जाता यह मरणधर्मा,
इसी शरीर में ब्रह्म को प्राप्त हो जाता ।

सर्प की मृत और परित्यक्त काँचुली,
जिस प्रकार बाँबी के ऊपर पड़ी रहती,
उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है,
यह अशरीर अमृत प्राण तो है ब्रह्म ही ।

याज्ञवल्क्यजी से यह उपदेश सुन,
विद्यादान से उऋण होने के लिए,
विदेहराज जनक ने उनसे कहा,
यह एक सहस्त्र गौएँ हैं आपके लिए ।

मोक्षतत्त्व का निर्णय हो जाने पर भी,
जनक ने सम्पूर्ण समर्पण अभी नहीं किया,
आत्मज्ञान का साधन और उसका शेषभूत,
सर्वेषणात्यागरूप सन्यासज्ञान अभी बचा ।

इस विषय में यह मन्त्र है कि यह,
ज्ञानमार्ग है सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन,
वह मुझे स्पर्श किए हुए है जिसका,
फलसाधक ज्ञान मैंने ही किया धारण ।

धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोक में,
जीते-जी ही मुक्त होकर,
देहत्याग के बाद उसी मार्ग से,
कृतार्थ होता मोक्ष प्राप्त कर ।

मतभेद है उसके मार्ग के विषय में,
कोई शुक्ल, कोई नीलवर्ण बतलाते उसमें,
कोई पिंगलवर्ण, हरित, कोई लोहित कहते,
किन्तु यह मार्ग जाना ब्रह्मवेत्ता ने ।

पहले पुण्य करनेवाला होकर फिर,
पुत्रादि एषनाओं से मुक्त हो जाता,
उपशान्त हो जाता परमात्मतेज में,
ऐसा ब्रह्मवेत्ता उस मार्ग से जाता ।

उपासना करते जो अविद्यारूप कर्म की,
अज्ञानसंज्ञक अन्धकार में वे प्रवेश करते,
और जो कर्मकाण्डरूप त्रयीविद्या में रत,[205]
वे तो और भी अधिक अन्धकार में गिरते ।

वे अमुख (अनान्न्द) नाम के लोक हैं,
व्याप्त हैं जो गहन अन्धकार से,
ऐसे अविद्वान और अज्ञानी लोग,
मरकर उन्हीं लोकों को जाते ।

यदि पुरुष आत्मा को 'मैं यह हूँ,'
जान जाय इस प्रकार विशेषरूप से,
तो फिर क्यों शरीर के पीछे संतप्त हो,
क्यों इच्छा करे, किस कामना से ?

अनेक अनर्थों से पूर्ण, विवेक विज्ञान विरोधी,
विषम शरीर में प्रविष्ट हुआ यह आत्मा,
जिस ब्राह्मण को प्राप्त और ज्ञात हो गया,
उसी का लोक, वही लोक, विश्व का कर्ता ।

कृतार्थ हो जाते देह में रहते उसे जाननेवाले,
बड़ी हानि है यदि उसे नहीं जाना,
अमृत हो जाते हैं जो जान लेते हैं उसे,
किन्तु दूसरे लोगों को तो दुःख ही है पाना ।

कर्मानुसार सबको फल देनेवाले ईश्वर से,
भेददर्शी सभी लोग अपनी रक्षा चाहते,[206]
किन्तु जो इस आत्मा को साक्षात् जान लेते,
वे आत्मा को पाकर, निर्भय हो रहते ।

दिन-रात आदि घटकों के साथ जिसके नीचे,
संवत्सरचक्र चक्कर लगाता रहता,
उस ज्योतियों के ज्योतिःस्वरूप अमृत की,
देवसमूह 'आयु' इस प्रकार उपासना करता ।

जिस ब्रह्म में गन्धर्वादि पाँच पञ्चजन,[207]
और अव्याकृतसंज्ञक आकाश भी प्रतिष्ठित,
उस आत्मा को ही मैं अमृत ब्रह्म मानता,
उस ब्रह्म का ज्ञाता मैं, ब्रह्मरूप स्थित ।

जो जानते उसे प्राण का प्राण,
नेत्र का नेत्र और श्रोत्र का श्रोत्र जानते,
उस पुरातन और सर्वप्रथम ब्रह्म को,
वे, मन का मन जाननेवाले, जानते ।

परमार्थ ज्ञान से संस्कारयुक्त हुए मन से,
आचार्योपदेशपूर्वक ही देखना चाहिए उसे,
नानात्वरहित, जो इसमें नानात्व देखता,
वह मृत्यु को प्राप्त होता है मृत्यु से ।

आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को,
आकाश सा एक निरन्तर देखना चाहिए,
अप्रमेय, ध्रुव, निर्मल, सूक्ष्मतर, अजन्मा,
आत्मा, महान व अविनाशी जानना चाहिए ।

बुद्धिमान ब्राह्मण को उसे ही जानकर,
उसी में अपनी प्रज्ञा करनी चाहिए,
बहुत शब्दों का निरन्तर चिन्तन न करे,
उसे तो वाणी का श्रम समझना चाहिए ।

---

[205] अर्थात अविद्यारूप वस्तु का प्रतिपादन करनेवाली कर्मार्था त्रयीविद्या में रत हैं; ऐसा समझकर की वेद तो प्रतिषेधपरक ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, उपनिषदार्थ की उपेक्षा करनेवाले हैं ।

[206] अर्थात अपने कर्मों का दण्ड पाने के भय से ।

[207] पञ्चजन-अर्थात गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस इस प्रकार ये पाँच; अथवा निषाद जिनमें पाँचवाँ है, वे ब्राह्मणादि वर्ण ।

प्राणों में विज्ञानमय, महान अजन्मा आत्मा,
जो हृदयाकाश है उसमें वो शयन करता,
सबको वश में रखनेवाला, शासक, अधिपति,
शुभ-अशुभ कर्म से छोटा-बड़ा न होता ।

सर्वेश्वर, भूतों का अधिपति और पालक,
लोकों की मर्यादा अक्षुण्ण रखनेवाला,
वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप आदि से,
उसे जानकर ब्राह्मण, मुनि बन जाता ।

इस आत्मलोक की ही इच्छा करते हुए,
त्यागी पुरुष सब त्यागकर चले जाते थे,
पूर्ववर्ती विद्वान उसे ही अभीष्ट जान,
सकाम कर्मों की इच्छा नहीं करते थे ।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से उभरकर,
फिर भिक्षाचर्या में वे प्रवृत्त हुआ करते थे,
ये पुत्र, धन, लोकादि की इच्छाएँ एक ही हैं,
इनकी इच्छा वे त्याग दिया करते थे ।

नेति-नेति कह निर्देशित किया गया आत्मा,
अगृह्य, अविनाशी, असंग, अनासक्त होता,
निर्बाध, अव्यथित और अक्षय यह आत्मा,
इसके ज्ञाता को शोक और हर्ष नहीं होता ।

इस निमित्तार्थ पाप किया, ऐसा पश्चाताप,
न ही पुण्य करने का उसे हर्ष होता,
पार कर जाता है वह इन दोनों को ही,
कृताकृत नित्यकर्म से तप्त नहीं होता ।

ब्राह्मण के द्वारा कही गयी यह बात,
ऋचा द्वारा भी करी गयी है प्रकाशित,
ब्रह्मवेत्ता की स्वभाविक नित्य महिमा है,
यह नेति-नेति आत्मा, श्रुति द्वारा लक्षित ।

ब्रह्मवेत्ता की यह नित्य महिमा,
जो न घटती है, न बढती कर्म से,
इसके स्वरूप का ज्ञाता ही होना चाहिए,
जिसे जान अलिप्त रहता पापकर्म से ।

कर्म से असम्बद्ध ऐसे इसे जाननेवाला,
ब्राह्य इन्द्रिय-व्यापार से उपशान्त हो जाता,
निवृत्त हो जाता अन्तःकरण की तृष्णा से,
और सम्पूर्ण एषणाओं से मुक्त हो जाता ।

समस्त द्वदों को सहन करनेवाला,
एकाग्र हो आत्मा में देखता आत्मा को,
आत्मा के सिवाय अन्य कहीं कुछ नहीं,
सभी चराचर में बस देखता आत्मा को ।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सब छोडकर,
निरन्तर मनन से वो मुनि हो जाता,
पुण्य-पापरूपी पाप की प्राप्ति नहीं होती,
सम्पूर्ण पापों को वो पार कर जाता ।

पापरहित, निष्काम, निःसंशय हो,
'मैं सर्वात्म परब्रह्म हूँ,' ऐसा जानता,
इस प्रकार निश्चितमति होकर,
वह ब्रह्मवेत्ता पूर्ण ब्राह्मण हो जाता ।

याज्ञवल्क्य बोले, यह ब्रह्मलोक है,
हे सम्राट ! तुम यहाँ पहुँचा दिए गए हो,
जनक ने विदेहराज देते कहा ऋषि से,
श्रीचरणों में समर्पित करता मैं स्वयं को ।

वह यह महान अजन्मा आत्मा,
समस्त भूतों में स्थित रहकर,
समस्त अन्नों का भोक्ता होता,
शासन करता उन्हें कर्मफल देकर ।

इस अजन्मा, अन्नाद, वसुदान आत्मा को,
जो इन सब गुणों से युक्त जानता,
वह समस्त भूतों में आत्मभूत हुआ,
सर्वात्म हो सब कर्मों का फल प्राप्त करता ।

वही यह महान अजन्मा आत्मा है,
अजर, अमर, अमृत और अभय ब्रह्म,
अभय ही ब्रह्म है, जो ऐसा जानता है,
वह ही हो जाता है अभय ब्रह्म ।

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्यजी और मैत्रेयि के मध्य संवाद,
वर्णित किया गया इस पञ्चम ब्राह्मण में,
इसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है,
द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में ।

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्कीय काण्ड की वंश परम्परा का,
वर्णन किया गया है इस ब्राह्मण में,
ज्ञान के लिए उल्लेख इस परम्परा का,
स्वयंभू ब्रह्मा से इसे पाया ऋषियों ने ।

गुरु-शिष्य परम्परा से चलकर पहुँचा,
इसमें उल्लेखित ऋषियों में यह ज्ञान,
स्वाअनुभूत ज्ञान दिया शिष्य को गुरु ने,
उन सभी ऋषियों और ब्रह्मा को प्रणाम ।

पञ्चम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

पूर्ण है वह परब्रह्म-परमात्मा,
और वह सोपाधिक ब्रह्म भी पूर्ण,
पूर्ण से ही यह पूर्ण उत्पन्न होता,
पूर्ण निकाल लेने पर भी शेष पूर्ण ।

आकाश सा व्यापक, अनन्त, उपाधिशून्य,
वही यह नाम-रूप से स्थित सोपाधिक पूर्ण,
उस कारण ब्रह्म से कार्य ब्रह्म प्रकटा,
उस पूर्ण से प्रकटा यह कार्य ब्रह्म भी पूर्ण ।

नाम-रूप उपाधि युक्त अविद्या से जनित,
कार्यब्रह्म परमार्थ-स्वरूप से भिन्न लगता,
पर जब जान लेता 'मैं ही वह पूर्ण ब्रह्म हूँ,'
अपूर्णता तिरस्कृत हो केवल पूर्ण रहता ।

अनन्त परमात्माकाश या परम व्योम,
ब्रह्म ही है, सम्बोधित ॐ अक्षर से,
यह आकाश सनातन परमात्म रूप है,
कौरव्यायणीपुत्र ने कहा इस प्रकार से ।

जिस आकाश में करता वायु विचरण,
वह आकाश ही 'ख' है, 'ॐ खं ब्रह्म'[208] में,
यह ॐकार वेद है, ज्ञानी ब्राह्मण को ज्ञात,
जो ज्ञातव्य है, जाना जा सकता इससे ।

द्वितीय ब्राह्मण

देव, मनुष्य और असुर, इन तीनों ने,
ब्रह्मचर्यवास किया पिता प्रजापति के यहाँ,
ब्रह्मचर्यवास कर चुकने पर देवों ने,
हमे उपदेश कीजिए प्रजापति से कहा ।

'द' अक्षर का उपदेश देकर उनसे,
'समझ गये क्या,' पूछा प्रजापति ने,
वे बोले, आपने दमन करने को कहा,[209]
'ठीक है, तुम समझ गए,' कहा उन्होंने ।

मनुष्यों के पूछने पर भी उन्होंने,
'द' का उपदेश दे वही प्रश्न किया उनसे,
वे बोले, आपने दान करने को कहा,[210]
'ठीक है, तुम समझ गए,' कहा उनसे ।

फिर यही प्रश्न असुरों के पूछने पर,
'द' का उपदेश दे वही प्रश्न किया उनसे,
वे बोले, आपने दया करने को कहा,[211]
'ठीक है, तुम समझ गए,' कहा उनसे ।

मेघगर्जनारूपी दैवी वाक् से वह प्रजापति,
आज भी उनका अनुशासन करता,
यह दैवी वाक् 'द द द' ऐसी मेघगर्जना है,
जिससे दमन, दान, दया करो वो कहता ।

---

[208] 'ॐ खं ब्रह्म'-यह मन्त्र है; यहाँ यह ब्राह्मण इसका ध्यान कर्म में विनियोग करता है, अर्थात ओंकार ही ब्रह्म है ऐसा ध्यान और चिन्तन करना चाहिए ।

[209] देवता स्वभाव से ही अजितेन्द्रिय होने से उन्होंने 'द' इस उपदेश को अपने लिए 'दमन करो' ऐसा समझा ।

[210] मनुष्य स्वभाव से ही लोभी होने से उन्होंने 'द' इस उपदेश को अपने लिए 'दान करो' ऐसा समझा ।

[211] असुर स्वभाव से ही क्रूर और हिंसात्मक प्रवृति के होने से उन्होंने 'द' इस उपदेश को अपने लिए 'दया करो' ऐसा समझा ।

तृतीय ब्राह्मण

प्रजापति, ब्रह्म और सर्व है हृदय,[212]
यह हृदय जो नाम है, वो है तीन अक्षरवाला,
तीनों अक्षरों की अपनी-अपनी महिमा,
उनके अनुरूप फल पाता, उन्हें जाननेवाला ।

'हृ' अर्थात आहरण करनेवाला के ज्ञाता को,
स्वजन और अन्यजन बलि समर्पण करते,[213]
'द' के ज्ञाता को देते स्वजन और अन्यजन,
और 'यम्. के ज्ञाता स्वर्गलोक को जाते[214] ।

चतुर्थ ब्राह्मण

वह हृदय-ब्रह्म ही वह था जो कि सत्य है,
इसे महत्, पूज्य, प्रथमज जो जानता,
जीत लेता वह ऐसा ज्ञाता इन लोकों को,
और उसका शत्रु उसके अधीन हो जाता ।

पञ्चम ब्राह्मण

व्यक्त होने से पूर्व 'आप'[215] ही था जगत,
उस आप ने सत्य को प्रकट किया,
उस सत्य ब्रह्म ने प्रकट किया प्रजापति को,
और प्रजापति ने देवों को उत्पन्न किया ।

यह 'सत्य' तीन अक्षरवाला नाम है,
'स,' 'ती' और 'यम्' प्रयुक्त हुए इसमें,
प्रथम और अंतिम अक्षर सत्य हैं,
और मध्य अक्षर अनृत है इसमें ।

वह यह मध्य का अनृत[216] अक्षर,
परिगृहीत है सत्य से दोनों ओर से,
इसलिए यह सत्य बहुल ही है,
अनृत नहीं मारता उसे, जो जानता ऐसे ।

वह जो सत्य है, सो वह आदित्य है,
इस आदित्यमण्डल में है जो पुरुष,
और जो दक्षिण नेत्र में पुरुष है,
एक-दूसरे में प्रतिष्ठित हैं ये दोनों पुरुष ।

---

[212] हृदय इस पद के द्वारा हृदयस्था बुद्धि कही जाती है, जिसमें नाम, रूप और कर्मों का उपसंहार बतलाया गया है । सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित तथा सबका आत्मस्वरूप हृदय प्रजापति-प्रजाओं का रचयिता है । यह ब्रह्म है-बृहत तथा सबका आत्मा होने के कारण यह ब्रह्म है, और सर्वात्म अर्थात सर्व है ।

[213] हृदयरूप ब्रह्म के प्रति ही 'स्वाः'-इन्द्रियाँ और शब्दादि दूसरे विषय अपने-अपने कार्य का अभिहरण करते हैं ।

[214] 'द' अर्थात दानार्थक 'दा' धातु का 'द' यह रूप 'हृदय' नाम के अक्षररूप से निबद्ध हैं । यहाँ भी हृदयरूप ब्रह्म को 'स्वाः'-इन्द्रियाँ और अन्य-अर्थात अन्यान्य विषय अपना सारभूत देते हैं । हृदय भी भोक्ता को अपना सारभूत देता है । अतः जो दकार इस प्रकार उसे जानता है, उसे स्वजन और अन्यजन देते है । 'यम्' अक्षर का अर्थ गति से है । 'इण्' धातु का 'यम्' यह रूप इस नाम में निबद्ध है-ऐसा जो जानता है वह स्वर्गलोक को जाता है ।

[215] 'आप'-अर्थात जल; 'आप' शब्द से कर्म सम्बन्धी अग्निहोत्र आदि की आहुतियाँ कही गयी हैं । अग्निहोत्रादि की आहुति द्रवरूप होने के कारण आप (जल) है । यहाँ 'आप' ऐसा कहकर उत्पति से पहले अव्याकृत-रूप में स्थित कर्तासहित सभी भूतों का निर्देश किया जाता है । जगत का बीजभूत वह आप अव्याकृतरूप से स्थित था ।

[216] अनृत-अर्थात मिथ्या, झूठा, अपवाद, विपरीत ।

रश्मियों द्वारा अनुग्रह करता हुआ,
आदित्य-पुरुष प्रतिष्ठित है चाक्षुस पुरुष में,
और प्राणों द्वारा उपकार करता हुआ,
चाक्षुस पुरुष प्रतिष्ठित है आदित्य-पुरुष में ।

इस शरीर में जो यह विज्ञानमय भोक्ता है,
जिस काल में यह उत्क्रमण करने लगता,
उस समय शुद्ध देखता यह इस मण्डल को,
फिर पास नहीं आती इसके ये रश्मियाँ ।

'भूः' सिर है उस मण्डलीय पुरुष का,
सिर एक है और एक है यह अक्षर भी,
'भुवः' यह भुजा है, भुजाएँ दो हैं,
और दो ही अक्षर हैं भुवः में भी ।

'स्वः' चरण है, चरण दो हैं,
और दो ही अक्षर हैं स्वः में भी,
इसके गूढ़ नाम 'अहर्'[217] का ज्ञाता,
पाप को मारता और त्यागता भी ।

'भूः' सिर है उस मण्डलीय पुरुष का,
सिर एक है और एक है यह अक्षर भी,
'भुवः' यह भुजा है, भुजाएँ दो हैं,
और दो ही अक्षर हैं भुवः में भी ।

'स्वः' चरण है, चरण दो हैं,
और दो ही अक्षर हैं स्वः में भी,
इसके गूढ़ नाम 'अहम्'[218] का ज्ञाता,
पाप को मारता और त्यागता भी ।

षष्ठ ब्राह्मण

प्रकाश जिसका सत्य है वह मनोमय पुरुष,
अन्तरहृदय में सूक्ष्मरूप[219] से रहता,
वह यह सबका स्वामी और अधिपति है,
यह जो कुछ है, सबका शासन करता ।

सप्तम ब्राह्मण

विदान[220] करने के कारण विद्युत् विद्युत् है,
और यह विद्युत् ब्रह्म है, ऐसा कहा जाता,
इस आत्मा के प्रति पापों का नाश कर देता,
जो इस विद्युत् को ब्रह्म है, ऐसा जानता ।

अष्टम ब्राह्मण

स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार व स्वधाकार,
वाणीरूप उपास्य धेनु के हैं ये चार स्तन,
इनके उपजीवी देवता, मनुष्य व पितृगण,[221]
इसके प्राण वृषभ हैं और बछड़ा है मन[222] ।

---

[217] अहर्'-यह 'हन्' और 'हा' इन धातुओं का रूप है, जो ('हन्') हिंसा और गमन अर्थ में और (हा) त्याग अर्थ में प्रयुक्त होती हैं ।

[218] 'अहम्'-पूर्ववत अहम् भी 'अहर्' की तरह 'हन्' और 'हा' इन धातुओं का रूप है, ।

[219] सूक्ष्मरूप से-अर्थात धान या जौ के परिमाणवाला ।

[220] विदान-अर्थात खण्डन या विनाश करना ।

[221] स्वाहाकार और वषट्कार के उपजीवी देवता हैं, हन्तकार के उपजीवी मनुष्य हैं और स्वधाकार के उपजीवी पितृगण हैं ।

[222] इस धेनुरूप वाणी का प्राण वृषभ है क्योंकि प्राण के द्वारा ही वाक् प्रसव करती है । मन उसका वत्स है क्योंकि मन के द्वारा वह प्रस्त्रवित होती है ।

नवम ब्राह्मण

वैश्वानर है पुरुष के भीतर जठराग्नि,
जिससे कि भक्षण किया अन्न पकाया जाता,
उसीका घोष पुरुष कान मूँदकर जो सुनता,
उत्क्रमण के समय वो सुना नहीं जाता ।

दशम ब्राह्मण

जब यह पुरुष इस लोक से मरकर जाता,
प्राप्त होता उस समय यह वायु को,
रथ के पहिए के छिद्र सा वो मार्ग दे देता,
जिसके द्वारा चढ़ता है वो ऊपर को ।

ऊपर को चढ़ पहुँचता सूर्यलोक को वो,
जहाँ लम्बर बाजे के छिद्र सा मार्ग मिलता,
उस मार्ग के द्वारा ऊपर को चढ़कर,
फिर चन्द्रलोक में वो पहुँच जाता ।

चन्द्रमा भी उसे छिद्रयुक्त हो मार्ग देता,
यह छिद्र दुन्दुभि के छिद्र सा होता,
उससे अशोक और अहिम लोक[223] पहुँच,
ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक निवास करता ।

एकादश ब्राह्मण

ज्वरादि से ग्रसित को जो ताप होता,
तप के क्लेश सा ही वो क्लेश होता,
ऐसा सोच जो निन्दा न करता ताप की,
वह ताप कर्मक्षय का हेतु हो जाता ।

ऐसे ही मरणासन्न पुरुष जो सोचता,
अन्त्येष्टि के लिए ले जाया जाएगा वन को,
उस इस वन ले जाने को तप समझना,
जीतने का हेतु होता परम लोक को ।

मृतक को सब ओर से अग्नि में रखते,
यह उसके लिए परम तप है, जो जानता,
अग्निप्रवेश में इसकी उससे समानता से,
वह निश्चय ही परम लोक को जीत जाता ।

द्वादश ब्राह्मण

कोई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है,
किन्तु ऐसा समझना तो ठीक नहीं,
क्योंकि प्राण के बिना यह सड़ने लगता,
जो अविनाशी नहीं, वो ब्रह्म नहीं ।

और कोई अन्य कहते कि प्राण ब्रह्म हैं,
सो ऐसा समझना भी उचित नहीं,
अन्न के बिना प्राण सूख जाते हैं सो,
इनका एक-एक का ब्रह्मत्व सम्भव नहीं ।

परन्तु ये दोनों एकरूपता को प्राप्त होकर,
एकभाव हो, परमभाव को प्राप्त होते,
ऐसे ज्ञाता का मैं क्या शुभ या अशुभ करूँ,
प्रातृद ऋषि ने कहा था पिता से[224] ऐसे ।

---

[223] अशोक और अहिम लोक-अशोक यानी शारीरिक दुःख से रहित और अहिम यानी मानसिक दुःख से रहित ।

[224] क्योंकि कृतकृत्य हो जाने के कारण ऐसे का न शुभ किया जा सकता है न ही अशुभ ।

उस ऐसे कहनेवाले पुत्र प्रातृद को,
हाथ से रोकते हुए कहा उसके पिता ने,
इन दोनों की एकरूपता को प्राप्त होकर,
परम-भाव को भला प्राप्त किया किसी ने ?

तब किस भाव से परमता प्राप्त करता,
प्रातृद के पूछने पर 'वि' कहा उसे पिता ने,
अन्न में ही ये समस्त भूत विष्ट हैं,
इसलिए अन्न 'वि' ऐसे कहा पिता ने ।

इसके सिवा 'रम्' भी कहा उन्होंने,
यह 'रम्' क्या है, वह 'रम्' है प्राण,
बल के आश्रयभूत प्राण के रहने पर ही,
सब भूत रमण करते, सो 'रम्' है प्राण ।

बिना आश्रय रमण कर सकता न कोई,
न ही बिना बल कोई रमण कर सकता,
जब वो आश्रय और बल से युक्त होता,
तभी कृतार्थ हो वो रमण कर सकता ।

ऐसे ज्ञाता उपासक को अन्नगुण जानने से,
समस्त भूत प्रवेश करते हैं उसमें,
और प्राणगुण का ज्ञान होने के कारण,
समस्त भूत रमण करते हैं उसमें ।

त्रयोदश ब्राह्मण

'उक्थ'[225] इस प्रकार प्राण की करे उपासना,
प्राण ही उक्थ, वो ही उठाता है इन सबको,
इसका ज्ञाता उक्थवेत्ता वीरपुत्र को पाता,
साधक प्राण से सायुज्य और सलोकता को ।

'यजु' इस प्रकार प्राण की करे उपासना,
प्राण ही यजु, जिसमें योग होता जीवों का,
इसकी श्रेष्ठता से जीव इससे संयुक्त होते,
साधक यजु से सायुज्य और सलोकता ।

'साम' इस प्रकार प्राण की करे उपासना,
प्राण ही साम, जिसमें भूत सुसंगत होते,
समर्थ होते हैं उसकी श्रेष्ठता के लिए,
साधक इससे सायुज्य और सलोकता पाते ।

प्राण क्षत्र है, ऐसे उपासना करे प्राण की,
देह की शस्त्रादिजनित क्षत से रक्षा करता,
कहीं त्राण न पानेवाले की रक्षा करता प्राण,
साधक इससे सायुज्य और सलोकता पाता ।

चतुर्दश ब्राह्मण

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यो-ये आठ अक्षर हैं,
आठ अक्षरवाला ही प्रथम पाद है गायत्री का,
भूमि आदि इसका प्रथम पाद जानता जो,
इस त्रिलोकी में जो कुछ है उसे जीत लेता ।

'ऋचः, यंजूषि, सामानि'-ये आठ अक्षर हैं,
आठ अक्षरवाला ही द्वितीय पाद गायत्री का,
गायत्री के इस त्रैविद्य पाद को जानता जो,
त्रयीविद्या का सभी फल प्राप्त कर लेता ।

प्राण, अपान, व्यान-ये आठ अक्षर हैं,
आठ अक्षरवाला ही तृतीय पाद गायत्री का,
प्राणादि ही को यह तृतीय पाद जानता जो,
समस्त प्राणी समुदाय को वो जीत लेता ।

---

[225] उक्थ-अर्थात कथन; सूक्ति; भिन्न-भिन्न देवताओं के वैदिक स्त्रोत ।

और यह जो तपता यानी प्रकाशित होता,
वही तुरीय, दर्शत एवं परोरजा पद इसका,
जो चतुर्थ होता वह कहलाता है, तुरीय,
'दर्शतं पदम्'-दीखता होता अर्थ इसका[226] ।

परोरजा अर्थात लोकों के ऊपर-ऊपर रहकर,
यह जो तपता है वो प्रकाशित होता,
जो ऐसे जानता गायत्री का यह चतुर्थ पद,
ऐसे ही शोभा और कीर्ति से प्रकाशित होता ।

त्रैलोक्य, त्रैविद्य और प्राणरूपा यह गायत्री,
प्रतिष्ठित है इस चतुर्थ पदरूप आदित्य में,
जगत का सार आदित्य मूर्तामूर्तरसस्वरूप है,
वस्तु नीरस और अप्रतिष्ठित बिना रस के ।

वह तुरीय पद प्रतिष्ठित है सत्य में,
और चक्षु ही सत्य है, प्रसिद्द है जग में,
क्योंकि आँखों देखा सत्य माना जाता,
उसीका विश्वास लोग करते जग में ।

यह सत्य प्रतिष्ठित है प्राणरूप बल में,
सत्य की अपेक्षा बल ओजस्वी होता,
इस प्रकार प्राण में प्रतिष्ठित होने से,
जगत की आत्मा है यह गायत्री प्राणरूपा ।

उस इस गायत्री ने त्राण किया गयों का,
इसी से गायत्री नाम हुआ इसका,
शब्द करनेवाले वागादि प्राण ही गय[227] हैं,
इस गायत्री ने त्राण किया था उनका ।

उपनयन के समय आठ वर्ष के वटु को,
जिस सावित्री का उपदेश किया, वह यही है,
आचार्य जिस वटु को इसका उपदेश करता,
यह गायत्री उस-उस की रक्षा करती है ।

गायत्री छन्दवाली सविता का उपदेश न कर,
कोई अनुष्टुप[228] छन्दवाली का उपदेश करते,
कहते वाणी अनुष्टुप है, यह उसका उपदेश,
किन्तु इस प्रकार कर वे उचित न करते ।

प्राण गायत्री हैं, कहा जा चुका है,
सो प्राणरूपा गायत्री का उपदेश होने पर,
वाक् सरस्वती और अन्य सब प्राण भी,
रहते उस वटु को समर्पित होकर ।

जो इन तीन पूर्ण लोकों का दान करता है,
वह गायत्री के प्रथम पाद को व्याप्त करता,
और जो यह त्रयीविद्या है, उसका दान,
गायत्री के द्वितीय पाद को व्याप्त करता ।

जितने ये प्राणी हैं, उनका दान जो करता,
गायत्री के तृतीय पाद को व्याप्त करता,
इसका जो चौथा दर्शत परोरजा पाद है,
किसी भी दान से पाया नहीं जा सकता ।

यह सब अप्राप्य होने से मात्र कल्पना है,
कोई कहाँ से करेगा प्रतिग्रह (दान) इतना,
इसलिए इस मन्त्र का यही तात्पर्य है,
कि गायत्री की ही करनी चाहिए उपासना ।

---

[226] 'दर्शतं पदम्'-अर्थात मानो यह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष दीखता है ।

[227] गय-अर्थात प्राण; घर, मकान; आकाश, अन्तरिक्ष; और धन ।

[228] अनुष्टुप-अष्टक्षरपदी छन्द या बत्तीस अक्षरों का एक वर्णवृत्त । अनुष्टुप छन्द चार पादों का होता है और गायत्री छन्द तीन पादों का ।

इस मन्त्र से गायत्री को नमस्कार निवेदन,
त्रैलोक्यरूप प्रथम पाद से एकपदी है तू,
तीनों वेदरूप द्वितीय पाद से द्वीपदी है,
तीन प्राणरूप तीसरे पाद से त्रिपदी है तू ।

चतुष्पदी है तू, तुरीय पाद से हे गायत्री !
इनसे परे निरुपाधिक स्वरूप से अपद है तू,
अपद है तू, क्योंकि जानी नहीं जाती,
तेरे तुरीय पद को नमन स्वीकार कर तू ।

उपासक से द्वेष करनेवाले के लिए कहे,
कि उसका अमुक मनोरथ सिद्ध न हो,
ऐसा कहकर जो उपासक नमन करता,
शत्रु के प्रति अपना मन्तव्य पा लेता वो ।

गायत्री-विज्ञान के लिए कहा जाता है,
कि विदेह जनक ने कहा था बुडिल को,
तू कहता गायत्री-तत्त्व का ज्ञाता है तो,
क्यों हाथी सा ढोता तू प्रतिग्रह दोष को ?

इस पर बुडिल ने कहा, हे सम्राट !
मैं इसका मुख ही नहीं जानता था,
जनक ने कहा, अग्नि ही इसका मुख है,
बहुत सा ईंधन भी अग्नि जला डालता ।

इसी प्रकार ऐसा जाननेवाला ज्ञाता,[229]
यदि बहुत सा पाप भी करता रहा हो,
तो भी उन सबका भक्षण करके,
शुद्ध, पवित्र, अजर, अमर हो जाता वो ।

पञ्चदश ब्राह्मण

अपनी अभीष्ट वस्तु ढक दी जाती,
जिस प्रकार किसी उचित पात्र से,
उसी प्रकार यह सत्यसंज्ञक ब्रह्म,
मानो ढका हो ज्योतिर्मय मण्डल से ।

क्योंकि जिनका चित्त समाहित नहीं,
यह ब्रह्म अदृश्य है उन पुरुषों के लिए,
उसका आवरक पात्र उघाड़ दे, हे पूषन् !,[230]
मुझ, सत्यधर्म के प्रति दर्शन के लिए ।

हे एकर्षे ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्राजापत्य !
अपनी किरणें हटा, तेज को समेट ले,[231]
तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय रूप है,
तेरे उस कल्याणमय रूप को देखता हूँ मैं ।

सूर्यमण्डलस्थ पुरुष, मुझ अमृतस्वरूप के,
मरने पर भीतरी शरीर के साथ ऐसा हो,
प्राणवायु प्राप्त हो इस ब्राह्यवायु को,
शरीर भस्मशेष होकर पृथ्वी को प्राप्त हो।

---

[229] अर्थात गायत्री का मुख अग्नि है इस प्रकार जो जानता है तथा स्वयं अग्नि मुख होकर गायत्री का स्वरूप हो गया है ।

[230] पूषन्-जगत का पोषण करने के करण सूर्य 'पूषा' है ।

[231] एकर्षे, यम, सूर्य और प्राजापत्य ये सब सम्बोधन सूर्य के लिए ही हैं । दर्शन करने के करण वह ऋषि है और क्योंकि वही सम्पूर्ण जगत का आत्मा और नेत्र होकर सबको देखता है, अथवा अकेला चलता है, इसलिए एकर्षि; हे यम !-क्योंकि सम्पूर्ण जगत का संयमन तेरा किया हुआ है; हे सूर्य !-क्योंकि जगत के रस, रश्मि, प्राण और बुद्धि को सम्यक प्रकार से प्रेरित करता है; हे प्राजापत्य !-प्रजापति अर्थात ईश्वर अथवा हिरण्यगर्भ के पुत्र होने के करण हे प्राजापत्य ।

हे प्रणवरूप और मनोमय क्रतुरूप अग्निदेव !
जो स्मरण करने योग्य, उसका स्मरण कर,
कर्मफलप्राप्ति हेतु देवयानमार्ग से ले चल,
तुझे नमन, हमारे घोर पाप हमसे दूर कर ।

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता,
स्वजनों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता वो,
प्राण की ज्येष्ठ और श्रेष्ठ जान उपासना,
जो करता सबमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता वो ।

जो कोई वसिष्ठा[232] को जानता,
स्वजनों में वसिष्ठ हो जाता वो,
वाक् को वसिष्ठा जान उपासना,
जो करता सबमें वसिष्ठ होता वो ।

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता वो ज्ञाता,
समान देश और काल में प्रतिष्ठित होता,
चक्षु की प्रतिष्ठारूप में उपासना जो करता,
समान व दुर्गम देश-काल में प्रतिष्ठा पाता ।

जिस भोग को चाहता, ज्ञाता सम्पद का,
सम्यक प्रकार से उसे वो प्राप्त हो जाता,
श्रोत ही सम्पद, सब वेद इसमें निष्पन्न,
ऐसा उपासक, जो चाहता, भोग पा जाता ।

जो कोई आयतन को जानता है,
स्वजनों और अन्यों का आयतन होता,
मन की आयतन ऐसे उपासना करनेवाला,
स्वजन और परिजन का आयतन होता।

जो कोई भी प्रजापति को जानता,
वो प्रजा और पशुओं द्वारा प्रजात[233] होता,
रेतस् ही प्रजापति है, जो ऐसा जानता,
प्रजा और पशुओं द्वारा प्रजात होता ।

वे ये प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ,'
ब्रह्मा के पास गए वे ऐसे विवाद करते,
वे बोले, 'जिसके उत्क्रमण करने से शरीर,'
अधिक पापी माने, वो श्रेष्ठ सबसे ।'

ब्रह्मा के इस प्रकार कहे जाने पर,
उन प्राणों ने वर्चस्व सिद्ध करने के लिए,
शरीर से उत्क्रमण करना शुरू किया,
एक-एक कर श्रेष्ठता जताने के लिए ।

पहले उस वाक् ने उत्क्रमण किया,
शरीर से बाहर रहा एक वर्ष तक,
लौटकर पूछा किस तरह जीवित रहे,
मेरे बिना हे शरीर ! तुम अब तक ?

मूक बिना बोले श्वास लेते रहते जैसे,
नेत्र से देखते, कान से सुनते रहते,
प्रजा उत्पन्न करते रहते रेतस् से,
मन से चिन्तन करते जीवित रहते ।

ऐसे ही चक्षु, श्रोत्र, मन और रेतस् ने भी,
एक वर्ष तक शरीर से बाहर निवास किया,
पूछने पर अंधे, बहरे, बालक, नपुंसक सा,
तुम्हारे बिना शरीर जीवित रहा, उत्तर मिला ।

---

[232] वसिष्ठा-अर्थात बसाने और बसने वाली; संस्कृत में वसिष्ठ का अर्थ है उत्कृष्ट और धनवान । वाणी ही अतिशयरूप से बसाती है अथवा बसती है, इसलिए वाक् ही वसिष्ठा है ।

[233] प्रजात-अर्थात वृद्धि को प्राप्त ।

फिर प्राण[234] ने उत्क्रमण की इच्छा की,
तो अन्य प्राण[235] भी साथ ही उखड़ने लगे,
वैसे ही जैसे पैर बाँधने वाली मेखों को,
कोई अच्छा घोड़ा खींचकर उखाड़ने लगे ।

तब वे वाक् आदि सब कहने लगे,
हे भगवन्! आप ही श्रेष्ठ हैं हम सबसे,
आप इस शरीर का उत्क्रमण न करें,
हमारा अस्तित्व है आपके अस्तित्व से ।

फिर वाक् ने कहा उस प्राण से,
'मैं जो वसिष्ठ हूँ सो तुम्हीं वसिष्ठ हो,'
ऐसे ही चक्षु, श्रोत्र, मन और रेतस् ने कहा,
जो हम हैं वो वास्तव में तुम्हीं हो ।

तब प्राण ने पूछा, मेरा अन्न क्या होगा,
वागादि बोले जो अन्न है सब जीवों[236] का,
सो यह सब 'अन'[237] (प्राण) का अन्न है,
ऐसे ज्ञाता को कुछ अनन्न[238] न होता ।

फिर उसने पूछा, मेरा वस्त्र क्या होगा,
तब वागादि ने कहा वह 'जल' होगा,
सो भोजन करने से पहले व बाद में,
पुरुष जल से आच्छादन करते इसका ।

द्वितीय ब्राह्मण

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु[239] जब,
आया पंचालदेश की लोगों की सभा में,
जीवल के पुत्र प्रवाहण[240] ने उससे पूछा,
क्या शिक्षित किया है तुझे तेरे पिता ने ?

उसके हाँ कहने पर प्रवाहण ने पूछा,
मरने पर प्रजा किन मार्गों से जाती,
क्या तू जानता है कि वह फिर,
इस लोक में किस प्रकार से आती ?

श्वेतकेतु के अनभिज्ञता प्रकट करने पर,
जैवलि प्रवाहण ने फिर उससे पूछा,
इस प्रकार पुनः-पुनः बहुतों के मरने पर,
वह लोक उनसे क्यों नहीं भरता ?

इसका भी उत्तर मालूम नहीं था उसको,
तो न कहने पर, श्वेतकेतु से उसने पूछा,
क्या तुझे मालूम कितनी आहुति देने पर,
कैसे 'आप'[241] पुरुष संज्ञा को पा लेता ?

क्या तू देवयानमार्ग अथवा पितृयान के,
उस कर्मरूप साधन को जानता,
जिस साधन को करने से लोगों को,
देवयान या पितृयान का मार्ग मिल जाता ?

---

[234] प्राण-अर्थात मुख्य प्राण ।

[235] अन्य प्राण अर्थात वाक् आदि सभी इन्द्रियाँ ।

[236] अर्थात कुत्ते से लेकर पक्षियों तक ।

[237] अन-यह प्राण का प्रत्यक्ष नाम है ।

[238] अनन्न-अर्थात अभक्षणीय नहीं होता और अभक्ष्य का संग्रह भी नहीं होता ।

[239] ऋषि अरुण का पुत्र आरुणि (ऋषि उद्दालक) और उसका पुत्र श्वेतकेतु ।

[240] जीवल नामक राजा का पुत्र-राजा प्रवाहण-जैवलि प्रवाहण ।

[241] आप-अर्थात सोमघृतादि रस ।

फिर प्रवाहण ने कहा, हमने मन्त्र सुना है,
पितरों के और देवों के हैं दो मार्ग,
मनुष्यों से सम्बन्ध रखनेवाले हैं,
पितरों के और देवों के ये दोनों मार्ग ।

इन दोनों मार्गों से जानेवाला जगत,
सम्यक प्रकार से जाता इन मार्गों से,
और द्युलोक और पृथ्वीरूप ये मार्ग,
स्थित हैं पिता और माता के मध्य में ।

श्वेतकेतु इनके उत्तर दे न सका तो,
प्रवाहण ने कहा-कैसी शिक्षा पायी है तूने,
श्वेतकेतु ने पिता के पास लौटकर कहा,
समुचित शिक्षा नहीं दी मुझे आपने ।

उस राजपुत्र ने पाँच प्रश्न किए मुझसे,
एक का भी विवेचन मैं कर न सका,
पिता ने कहा ये प्रश्न जो तुमने बताए,
इनका उत्तर तो मुझे भी नहीं पता ।

यदि ज्ञान होता मुझे इन प्रश्नों का,
तो समावर्तन पर क्यों न कहता तुझसे,
तब उद्दालक ऋषि ने पंचालदेश पहुँच,
उन प्रश्नों के उत्तर प्रवाहण से पूछे ।

ऋषि की यह माँग सुन राजा प्रवाहण ने,
धन सम्पत्ति आदि देनी चाही ऋषि को,
वे बोले यह सब तो मेरे पास में है,
और शिष्यवत राजा के पास रुक गए वो ।

राजा ने कहा, सर्वविद्या सम्पन्न होकर भी,
जिस प्रकार मुझसे यह विद्या चाही आपने,
यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं थी पहले,
क्षत्रिय-वंशजों को ही इसे दिया क्षत्रियों ने ।

क्षत्रियों में परम्परागत चली आई यह विद्या,
तथापि मैं तुम्हारे प्रति उपदेश करूँगा इसका,
तुमसे यह विद्या ब्राह्मणों को जाएगी,
अपने पूर्वजों सा ही तुम हमें क्षमा करना ।

(चतुर्थ प्रश्न का उत्तर)

हे गौतम ! यह द्युलोक ही अग्नि है,
आदित्य ही ईंधन है इस अग्नि का,
किरणें धूम, दिन ज्वाला, दिशाएँ अंगार,
और अवान्तर दिशाएँ हैं चिन्गागरियाँ ।

उस इस द्युलोकरूप अग्नि में,
इन्द्रादि देव श्रद्धा को हवन करते,
पितरों और ब्राह्मणों का राजा सोम,
उत्पन्न होता है इस आहुति से ।

हे गौतम ! यह मेघ ही अग्नि है,
संवत्सर ही ईंधन है इस अग्नि का,
अभ्र धूम, विद्युत् ज्वाला, वज्र अंगार,
और चिन्गागरियाँ हैं गर्जन मेघ का ।

उस इस मेघरूप अग्नि में,
देवगण सोमराजा को हवन करते,
उस इस सोमराजा को आहुत करने पर,
वृष्टि उत्पन्न होती इस आहुति से ।

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है,
पृथ्वी ही ईंधन है इस अग्नि का,
अग्नि धूम, रात्रि ज्वाला, चन्द्रमा अंगार,
और नक्षत्र इसकी हैं चिन्गागरियाँ ।

उस इस लोकरूप अग्नि में,
देवगण इस वृष्टि को हवन करते,
उस इस वृष्टि को आहुत करने पर,
अन्न उत्पन्न होता इस आहुति से ।

हे गौतम ! यह पुरुष ही अग्नि है,
उसका खुला मुख ईंधन है इस अग्नि का,
प्राण धूम, वाक् ज्वाला, नेत्र अंगार,
और श्रोत इसकी हैं चिन्गारियाँ ।

उस इस पुरुषरूप अग्नि में,
देवगण इस अन्न को हवन करते,
उस इस अन्न को आहुत करने पर,
वीर्य उत्पन्न होता इस आहुति से ।

हे गौतम ! यह स्त्री ही अग्नि है,
उसका उपस्थ ही समिध् है उसका,
उपमंत्रण धूम है, जननांग ज्वाला है,
सम्बन्ध अंगार और आनन्द चिन्गारियाँ ।

उस ऐसी इस स्त्रीरूप अग्नि में,
देवगण शुक्र का हवन करते,
उस इस प्रकार आहुति देकर,
गर्भरूप फल को उत्पन्न करते ।

जब तक कर्म भुगतने शेष रहते हैं,
तब तक वह जन्मा पुरुष जीवित रहता,
कर्म क्षय होने पर जब मर जाता वो,
उसे अग्नि के पास ले जाया जाता ।

तब अग्नि ही अग्नि होता उसका,
समिध् समिध् होती और धुआँ होता धुआँ,
ज्वाला ज्वाला होती, अंगारे होते अंगारे,
और चिन्गारियाँ ही होती चिन्गारियाँ ।

उस ऐसी इस अन्तिम अग्नि में,
देवगण इस पुरुष का हवन करते,
उस इस प्रकार आहुति के द्वारा,
वो पुरुष अत्यन्त दीप्ति प्राप्त करते ।

(पञ्चम प्रश्न का उत्तर)

(प्रथम प्रश्न का निराकरण)

जो गृहस्थ इस पंचाग्निविद्या को जानते,
और जो वन में सत्य ब्रह्म को उपासते,
वे इस प्रकार इनकी उपासना करनेवाले,
ज्योति के अभिमानी देवों को प्राप्त होते ।

उनसे प्राप्त होते दिनाभिमानी देवता को,
उससे शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता को,
फिर जिन छः महीने सूर्य उत्तरायण रहता,
प्राप्त होते वे उसके अभिमानी देवता को ।

फिर उससे देवलोक, देवलोक से आदित्य,
आदित्य से विद्युत् सम्बन्धी देवता को,
वहाँ से एक पुरुष ब्रह्मलोक ले जाता उन्हें,
जहाँ से फिर लौटना नहीं होता है उनको ।

यज्ञ, दान ओर तप के द्वारा,
जीतते हैं जो लोग लोकों को,
वे इस प्रकार इन लोकों को जीतनेवाले,
प्राप्त होते धूमाभिमानी देवता को ।

उनसे प्राप्त होते रात्रिभिमानी देवता को,
उससे कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता को,
फिर जिन छः महीने सूर्य दक्षिणायण रहता,
प्राप्त होते वे उसके अभिमानी देवता को ।

फिर उससे पितृलोक, पितृलोक से चन्द्रमा,
चन्द्रमा में पहुँचकर वे अन्न हो जाते,
भक्षण कर जाते वहाँ उनको देवगण,[242]
कर्मक्षीण होने पर आकाश को जाते ।

आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को,
और वृष्टि से पृथ्वी को वे प्राप्त होते,
पृथ्वी को प्राप्त हो वे अन्न बन जाते,
जहाँ पुरुषरूप अग्नि में हवन किए जाते ।

उससे लोक के प्रति उत्थान करनेवाले हो,
स्त्रीरूप अग्नि में वे उत्पन्न होते,
पुनः-पुनः परिवर्तित होते रहते वे ऐसे,
और इनसे अनभिज्ञ, कीट-पतंगादि होते[243] ।

तृतीय ब्राह्मण

जो विद्वान महत्त्व प्राप्त करना चाहे,
उत्तरायण में शुक्लपक्ष की पुण्य तिथि पर,
संयमित, पवित्र, तपमय जीवन जीते हुए,
बारह दिन रहे वो उपसद्व्रती होकर ।

गूलर की लकड़ी के कटोरे या चमस में,
ओषधियाँ, फल और सामग्रियाँ एकत्रकर,
विधिवत हवन के लिए अग्नि तैयार करे,
यज्ञस्थान पवित्र करे परिलेपन आदि कर ।

अग्नि के चारों ओर कुशा बिछाकर,
गृह्योक्त विधि से घृत का संस्कार कर,
पुल्लिंग नामवाले हस्त आदि नक्षत्र में,
हवन करे मन्थ को मध्य में[244] रखकर ।

हे जातवेद ! तेरे अधीन वक्रमति देवता,
प्रतिबन्ध करते जो पुरुष की कामनाओं का,
उनके हेतु यह आज्यभाग तुझमें अर्पित,
वे तृप्त हो मुझे कृतार्थ करें, स्वाहा ।

---

[242] अर्थात देवता उनका उपभोग करते हैं ।

[243] अर्थात उत्तर या दक्षिण इन दोनों मार्गों को जो नहीं जानते, उनकी प्राप्ति के लिए ज्ञान या कर्म का अनुष्ठान नहीं करते, वे कीट-पतंग डांस, मच्छर आदि क्षुद्र योनियों में जन्म लेकर बारम्बार जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं ।

[244] मध्य में-अर्थात अपने और अग्नि के मध्य में ।

'मैं सबकी मृत्यु को धारण करनेवाला हूँ,'
ऐसी मतिवाला देवता तेरे आश्रित जो रहता,
सर्वसाधनों के पूरक उसके लिए यजन,
घृत की धारा से मैं करता हूँ, स्वाहा ।

हवन कर संस्त्रव[245] को मन्थ में डाले,
'ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा' कहते,
ऐसे ही संस्त्रव मन्थ में डालता रहे,
प्राणाय स्वाहा आदि मन्त्रों को कहते[246] ।

तत्पश्चात उस मन्थ को स्पर्श करे,
'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्र को कहते,
मन्थ का अधिष्ठातृदेव प्राण होने के कारण,
वह सर्वात्मक है प्राण से एकरूप होने से ।

'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्र का अर्थ ऐसे है,
तू प्राणरूप से है सब देहों में भ्रमनेवाला,
अग्निरूप से प्रज्वलनशील, ब्रह्मरूप से पूर्ण,
आकाशरूप से तू है निष्कम्प रहनेवाला ।

सबसे अविरोधी होने के कारण,
तू यह जगद्रूप एक सभा के समान,
यज्ञारम्भ में प्रस्तोता द्वारा हिङ्कृत है,
उसी यज्ञ में तू हिङ्क्रियमाण[247] ।

उद्गाथा द्वारा गाए जानेवाला उद्गीथ तू,
और यज्ञमध्य में तू ही उद्गीयमान,
अध्वर्यु का श्रावित, आग्नीध्र का प्रत्याश्रावित,
मेघ में सम्यक प्रकार से तू दीप्तिमान ।

विविधरूप होनेवाला विभु, समर्थ प्रभु है,
तू ही ज्योति भोक्ता अग्निरूप से,
कारणरूप से सबका प्रलयस्थान है,
और संवर्ग सबका संहारक होने से ।

'आमंसि आमंहि' इत्यादि मन्त्र से,[248]
फिर पात्र सहित वो ऊपर उठाता इसे,[249]
वह प्राण राजा, ईशान और अधिपति है,
वो मुझे राजा, ईशान और अधिपति करे ।

फिर 'तत्स्वितुर्वरेण्यम्' आदि मन्त्रों से,
भक्षण करे वो इस मन्थ का,
तत्स्वितुर्वरेण्यम् से उसका तात्पर्य है कि,
सूर्य के वरेण्य श्रेष्ठ पद को मैं ध्याता ।

'वातामधु ऋतायते' मन्त्र से वो कहता,
हवा बह रही मधुर मन्द गति से,
'सिन्धः मधु क्षरति' मन्त्र से कहता,
मधुरस का स्त्राव हो रहा नदियों से ।

---

[245] संस्त्रव-अर्थात स्त्रुवा में बचे घृत को ।

[246] अर्थात 'प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा'; 'वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा'; 'चक्षुसे स्वाहा सम्पदे स्वाहा'; 'श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा'; 'मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा'; 'रेतसे स्वाहा'; 'अग्नेय स्वाहा'; 'सोमाय स्वाहा'; 'भूः स्वाहा'; 'भुवः स्वाहा'; 'स्वः स्वाहा'; 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा'; 'ब्रह्मणे स्वाहा'; 'क्षत्त्राय स्वाहा'; 'भूताय स्वाहा'; 'भविष्यते स्वाहा'; 'विश्वाय स्वाहा'; 'सर्वाय स्वाहा' और 'प्रजापतये स्वाहा' इन मन्त्रों को कहते ।

[247] उसी यज्ञ में उसी प्रस्तोता द्वारा तू हिङ्क्रियमाण है ।

[248] आमंसि अर्थात तू सब जानता है, आमंहि अर्थात मैं तेरी महिमा को अच्छी तरह जानता हूँ ।

[249] अर्थात पात्र सहित स्त्रुव को ।

'न: ओषधी: माध्वी: सन्तु' से वो,
ओषधियाँ मधुर हों हमारे लिए कहते,
मन्थ का पहला ग्रास भक्षण करे,
भू: स्वाहा: इतने अर्थवाले मन्त्र से ।

'देवस्य भर्ग: धीमहि' मन्त्र से कहता,
सवितादेव के तेज का हम ध्यान करते,
'नक्तमूत उषस: मधु' मन्त्र से कहता,
रात और दिन सुखकर हों हमारे लिए ।

'पार्थिवं रज: मधुमत्' मन्त्र से कहता,
पृथ्वी के धूलिकण उद्वेगकारी न हों,
'द्यो: पिता न: मधु अस्तु' से कहता,
पिता द्युलोक हमारे लिए सुखकर हो ।

फिर भक्षण करे मन्थ का दूसरा ग्रास,
भू: स्वाहा: इतने अर्थवाले मन्त्र से,
'य: न: धिय: प्रचोदयात्' यह मन्त्र कहे,
बुद्धियाँ को प्रेरित करने के लिए ।

'न: वनस्पति: मधुमान्' मन्त्र से कहता,
हमें वनस्पति (सोम) मधुर रसमय हो,
'सूर्य: मधुमान् अस्तु' मन्त्र से कहता,
कि वह सूर्य हमारे लिए मधुमान् हो ।

'गाव: न: माध्वी: भवन्तु' मन्त्र से कहे,
किरणें (दिशाएँ) हमारे लिए सुखकर हों,
फिर मन्थ के तीसरे ग्रास का भक्षण करे,
'स्व: स्वाहा: मन्त्र को कहते हुए वो ।

इसके बाद सम्पूर्ण सावित्री (गायत्री मन्त्र),
और समस्त मधुमती ऋचा[250] का पाठ करे,
यह सब मैं ही हो जाऊँ, भूर्भुव: स्वाहा: कह,
समस्त मन्थ भक्षण कर, पुर्वामुख हो बैठे ।

'दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं....भूयासम्' मन्त्र से,
प्रात:काल में आदित्य का नमस्कार करता,
फिर जिस मार्ग से गया, उसीसे लौटकर वो,
पश्चिम में बैठ, आगे कहे वंश को जपता ।

अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को,
इस मन्थ का उपदेश किया उद्दालक ने,
कहा, यह मन्थ सूखे ठूँठ पर डालने पर भी,
शाखाएँ उत्पन्न होंगी, निकल आएँगे पत्ते ।

फिर इस मन्थ का उपदेश किया क्रमश:,
याज्ञवल्क्य, मधुक पैङ्गय, भागवित्ति ने,
फिर जानकि आयस्थूण, सत्यकाम जाबाल,
और अपने शिष्यों को सत्यकाम जाबाल ने ।

सत्यकाम ने भी कहा था अपने शिष्यों को,
सूखे ठूँठ पर भी निकल आएँगे पत्ते इससे,
किन्तु जो अपना शिष्य या पुत्र न हो,
इस मन्थ का उपदेश देना उचित न उसे ।

इस मन्थ कर्म में प्रयुक्त चार पात्र,
बने हुए होते हैं गूलर की लकड़ी से,
स्त्रुव, चमस, इध्म और दो उपमथनी,
ये चारों ही बने हुए होते हैं उससे ।

[250] मधुमती ऋचा-'मधु वता ऋतायते' इत्यादि ।

धान, जौ, तिल, उड़द, साँवा, काँगनी, गेहूँ,
मसूर, बाल और कुलथी प्रयुक्त होते इसमें,
उन्हें पीसकर दही, मधु और घृत में मिला,
घृत से हवन करते हैं इस मन्थ कर्म में ।

चतुर्थ ब्राह्मण

(सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान या पुत्रमन्थ कर्म)

समस्त चर-अचर भूतों का रस पृथ्वी है,
पृथ्वी का रस जल, ओषधियाँ जल का,
ओषधियों का रस पुष्प, पुष्पों का फल,
फलों का आधार पुरुष, शुक्र सार पुरुष का ।

इस शुक्र की स्थापना के लिए प्रजापति ने,
विचार किया योग्य आधार का करे निर्माण,
सो उन्होंने स्त्री की सृष्टि करी जगत में,
और सन्तानोत्पत्ति का उससे किया विधान ।

ऋषियों ने श्रेष्ठ सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से,
इस पुत्रमन्थ कर्म का यहाँ उपदेश किया,
वाजपेय यज्ञ करने से जो पुण्यलोक मिलता,
सद्गृहस्थ के लिए उसे ऐसे उपलब्ध किया ।

सन्तानोत्पत्ति करने या न करने की विधि,
इस ब्राह्मण के मन्त्रों में बतलाई गयी,
यदि कोई जार पुरुष गलत आचरण करे,
उसे दण्डित करने की विधि भी बताई गयी ।

जो पुरुष चाहता पुत्र शुक्ल वर्ण का हो,
वेदाध्ययन करे, सौ वर्ष तक जीवीत रहे,
दूध और चावल पकाकर खीर बनाकर,
दोनों पति-पत्नी उस खीर का भक्षण करें ।

कपिल या पिंगल वर्ण का पुत्र चाहे जो,
दो वेद पढ़े और सौ वर्ष तक जीवीत रहे,
दही के साथ भात पका, घी मिला उसमें,
दोनों पति-पत्नी उस भात का भक्षण करें ।

श्याम वर्ण, अरुण नयन पुत्र चाहे जो,
तीन वेद पढ़े और सौ वर्ष तक जीवीत रहे,
केवल जल में भात पका, घी मिला उसमें,
दोनों पति-पत्नी उस भात का भक्षण करें ।

जो चाहता कि मुझे विदुषी पुत्री हो,
जो पूरे सौ वर्ष तक जीवीत रहे,
तिल, चावल की खिचड़ी में घी मिला,
दोनों पति-पत्नी उसका सेवन करें ।

प्रख्यात पण्डित, विद्वानों में सम्मानित,
वेदज्ञ और दीर्घायु पुत्र जो चाहे,
ओषधियों का गूदा[251] और चावल पकाकर,
घी मिलाकर उसे पति-पत्नी खाएँ ।

पुत्रजन्म होने पर, गोद में ले पिता,
काँसे के कटोरे में दधिमिश्रित घी रखकर,
अग्नि स्थापित कर आहुति दे उसकी,
'अस्मिन सहस्त्रम्' इत्यादि मन्त्र पढकर ।

---

[251] ओषधियों का गूदा-उक्षा अथवा ऋषभ नामक ओषधि के गूदे के साथ खाने का नियम है । ये हिमालय के शिखर पर प्राप्त होनेवाली ओषधि हैं ।

अर्थात पुत्ररूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ मैं,
एकमात्र पोषण करनेवाला होऊँ अनेकों का,
धन-धान्य से सदा भरपूर रहे मेरा यह पुत्र,
मन से पुत्र में होम करता अपने प्राणों का ।

'वाक्, वाक्, वाक्' तीन बार ऐसे,
पिता कहे शिशु के दाहिने कान में,
जिसका तात्पर्य है वेदत्रयीरूप वाणी,
प्रवेश करे उस शिशु के जीवन में ।

फिर दही, मधु और घी मिलाकर,
सोने के चम्मच से वो चटावे शिशु को,
चार मन्त्रों[252] का पाठ करते हुए पिता,
स्थापित करे उसमें समस्त लोकों को ।

उसके बाद पिता उस बालक का,
'तुम वेद हो' ऐसे नामकरण करे,
अत: 'वेद' यह उस बालक का,
गोपनीय नाम ही है, ऐसा समझे ।

तदन्तर शिशु को माता की गोद में दे,
मन्त्र द्वारा आव्हान करे देवी सरस्वती का,
उनका पोषण का जो अक्षय भण्डार है,
माता के दूध द्वारा पोषण करे उसका ।

इसके बाद वो बालक की माता को,
'इलासि' आदि मन्त्र द्वारा अभिमंत्रित करे,
तू ही स्तुति के योग्य अरुन्धती है,
वीर पुत्र को जन्म दे, कृतार्थ किया मुझे ।

इस बालक को देख दूसरे लोग कहें,
पिता, पितामह से बढ़कर है यह पुत्र,
उन्नति के शिखर पर विराजमान यह,
ऐसे पुत्र से पिता भी हो गया स्तुत्य ।

पञ्चम ब्राह्मण

समस्त प्रवचन का वंश बताया इसमें,
स्त्री विशेषण से पुत्र का विशेषण देकर,
स्त्री की प्रधानता से गुणवान पुत्र होता,
सो आचार्यपरम्परा वर्णित उन्हें लेकर ।

वह यह ब्रह्म प्रजापति से लेकर परम्परा से,
अनेक प्रकार से फैला हुआ है हम सबमें,
वह अनादि, अनन्त, स्वयंभू ब्रह्म नित्य है,
प्रणाम स्वीकार करें हमारा श्रीचरणों में ।

..... 'ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति'.....

---

[252] चार मन्त्र-'भूस्ते दधामि', 'भुवस्ते दधामि', 'स्वस्ते दधामि' और 'भूर्भुव: स्व: सर्व त्वयि दधामि' अर्थात मैं तुझमें भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक तथा भूर्भुव: स्व: सब लोकों की स्थापना करता हूँ ।